पीठ लोकोदय ग्रन्थमाला—हिन्दी ग्रन्थाङ्क—१३५

रेडियो-वार्त्ता-शिल्प

सिद्धनाथ कुमार

भा र ती य ज्ञा न पी ठ • का शी

प्रथम संस्करण
१९६१
मूल्य दो रुपये

प्रकाशक
मन्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी

मुद्रक
बाबूलाल जैन फागुल्ल
सन्मति मुद्रणालय, वाराण

हिन्दीके सुप्रसिद्ध नाटककार

तथा

आकाशवाणीके महानिर्देशक

श्री जगदीशचन्द्र माथुर

को

सादरार्पित

यों रेडियोसे मेरा सम्बन्ध, निकट या दूर का, पिछले बारह वर्षोंसे रहा है, पर प्रमारण-जैसे गम्भीर विषयपर विचार करनेके लिए इतना छोटा-सा अनुभव पर्याप्त नहीं होता। फलत: मैंने पाश्चात्य देशोंके हिल्डा मैथिसन, लियोनेल गैमलिन, जेनेट डनबर, रोजर मैनवेल, एल्कन एण्ड डोरोथियन एलन, एच० आर० विलियमसन, जॉन एस० कार्लाइल-जैसे प्रसिद्ध प्रमारणकर्ताओंके अनुभवोंसे सहायता ली है। इंग्लैण्ड और अमेरिकामें रेडियो-वार्ताके सम्बन्धमें काफी विचार हुआ है। यहीं यह कह दिया जाय कि प्रमारणके नियम सभी देशोंमें समान हैं, हर देशकी प्रसारण-सम्बन्धी अपनी-अपनी कोई प्राचीन परम्परा नहीं है। अपनी 'दि रेडियो टॉक' पुस्तकमें जेनेट डनबरने कहा है—'मेरी इन विभिन्न देशोंके प्रोड्यूसरों और प्रमारण-कर्त्ताओंके साथ विवादपूर्ण और प्रेरक बातचीत हुई है: अमेरिका, कनाडा, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, ब्राज़िल, टर्की, फ्रान्स, भारत, बेल्जियम, स्पेन, नार्वे, डेनमार्क और बोलीविया। इनमेंसे कुछके साथ हुए विचार-विमर्शके बाद अपने नोट्सके अध्ययनसे मुझे पता चला कि एक चीज बहुत स्पष्ट दिखायी पड़ती है—अच्छी रेडियो-वार्ताके सिद्धान्त प्रत्येक देश और प्रत्येक भाषाके लिए समान हैं।' जिन देशोंमें रेडियो-वार्ताकी कलापर विशेष ध्यान दिया गया है, उनके अनुभवी प्रसारणकर्ताओंके विचारोंके आधारपर मैंने इस पुस्तकमें अच्छी रेडियो-वार्ताके सिद्धान्तोंको ही प्रस्तुत करनेकी कोशिश की है।

उदाहरण-रूपमें आये उद्धरणोंके अतिरिक्त जितने अंश पुस्तकमें उद्धृत किये गये हैं, सभी अंग्रेजीसे अनुवादित करके, इसलिए कि केवल हिन्दी जाननेवाले पाठकोंको भी पुस्तक समझनेमें कहीं कोई कठिनाईका अनुभव न हो। अंग्रेजीके मूल उद्धरण जान-बूझकर छोड़ दिये गये हैं।

यह सोचकर कि रेडियो-वार्ताका सम्बन्ध उन लोगोंसे भी है, जो साहित्यकार नहीं हैं, लेखन-कार्य जिनका नियमित पेशा नहीं है, पुस्तकमें

लेखन-कला-सम्बन्धी विषयोंको पर्याप्त उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया गया है, जिससे वैसे वार्त्ताकार भी लाभान्वित हो सकें।

पुस्तकमें अधिक उदाहरण भारत-सरकारके पब्लिकेशन्स डिवीज़न द्वारा प्रकाशित 'रेडियो-संग्रह', 'प्रसारिका' और 'आकाशवाणी प्रसारिका' में छपी रेडियो-वार्त्ताओंसे दिये गये हैं। लेखक इनके सौजन्यको साभार स्वीकार करता है; जिन अन्य स्थलोंसे भी उदाहरण दिये गये हैं, उनके प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है।

उदाहरणोंके सम्बन्धमें यह निवेदित करना उचित लगता है कि उदाहरण देते समय किसी रचनाकारकी निन्दा या प्रशंसा करना लेखकका उद्देश्य नहीं रहा है। उसने रचनाकारोंको अपने सामने रखा ही नहीं है, केवल उनकी कृतियोंको देखा है, और सैद्धान्तिक कसौटीपर जो जहाँ उचित ज्ञात हुई है, उनको वहाँ रख दिया है। उन सब लेखकोंके प्रति लेखक कृतज्ञ है, जिनकी रचनाओंके उद्धरण इस पुस्तकमें आये हैं।

—सिद्धनाथ कुमार

विषय-सूची

God forbid that I should set up for a teacher! I purpose merely to confide to my readers what little I have learned................ reminding them meanwhile that even in the least important books one sometimes finds small matters deserving attention.

—Carlo Goldoni

(Italian Dramatist)

रेडियो-वार्त्ता : साहित्यका एक नया रूप

'मैं आपसे रेडियो-लेखनके सम्बन्धमें कुछ बातचीत करूँगा। हमारी यह बातचीत वैसी ही होगी, जैसी किसी पार्कमें, होटलमें या ड्राइंग-रूममें बैठे दो-चार मित्रोंकी होती है। लेकिन, अगर मुझसे अभी कुछ असावधानी हो जाय, और आपको कागज़की खड़खड़ाहट सुनायी पड़ जाय, तो आप सोचने लगेंगे, शायद मेरे हाथमें कागज़के कुछ पन्ने हैं, शायद मैं आपसे बातचीत न करके, इन पन्नोंको ही पढ़ रहा हूँ। आपका अनुमान सही होगा। आपसे मैं जो बातचीत कर रहा हूँ, वह मौखिक नहीं, लिखित है। मेरी यह वार्त्ता लिखित कृति है, रचना है। आप रेडियो सुनते हैं, तो आपने यह 'वार्त्ता' शब्द बार-बार सुना होगा। लेकिन 'साहित्य-दर्पण' या 'रस-गंगाधर' या साहित्य-शास्त्रके किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें इसकी चर्चा नहीं मिलेगी। बात यह है कि अभी ३०-३५ वर्ष पहले तक 'वार्त्ता' नाम-की रचनाका अस्तित्व नहीं था। रेडियोके आविष्कारके बाद इसका जन्म हुआ है; केवल इसीका नहीं, रेडियोके लिए लिखित साहित्यके कई और रूपोंका भी जन्म हुआ है।'—इन पंक्तियोंसे इस लेखकने दो ढाई वर्ष पहले 'साहित्यके नये रूप' वार्त्ताक्रममें प्रसारित अपनी 'रेडियो-लेखन' शीर्षक वार्त्ता प्रारम्भ की थी। सचमुच रेडियोके आविष्कारने रेडियो-नाटक, रेडियो-रूपक आदि जिन नये साहित्य-रूपोंको जन्म दिया है, उनमें रेडियो-वार्त्ताका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। देशी या विदेशी, कोई भी रेडियो-स्टेशन

नहीं है, जहाँसे रेडियो-वार्ताएँ नहीं प्रसारित की जातीं। इनका महत्त्व इ तथ्यसे ही समझा जा सकता है कि १९५६ में आकाशवाणीके विभि केन्द्रोंसे प्रसारित वार्ताओं एवं परिसंवादोंकी संख्या ४९४६ थी। यह संख् केवल अपने देशके लिए प्रसारित कार्यक्रमोंकी है, विदेशोंके लिए प्रसारि कार्यक्रमोंमें हुई वार्ताओंकी संख्या अलग है। ग्रामीण क्षेत्रों, बालकों तथ स्त्रियोंके कार्यक्रमोंमें प्रसारित वार्ताओंकी संख्या भी इसमें नहीं जोड़ी गय है। १९५६ के बाद तो आकाशवाणी-केन्द्रोंकी संख्या और भी बढ़ी है उनके साथ ही प्रसारित कार्यक्रमोंकी संख्यामें भी वृद्धि हुई है। १९५८ वार्षिक विवरणसे ज्ञात होता है कि विभिन्न केन्द्रोंसे प्रति वर्ष अंग्रेजी तथ प्रादेशिक भाषाओंमें दस हजारसे अधिक वार्ताएँ प्रसारित की जाती हैं।

रेडियो-वार्ताओंका यह महत्त्व केवल संख्याकी दृष्टिसे है, गुणकी दृष्टि नहीं। रेडियो-कार्यक्रमोंमें सम्भवतः सबसे अनाकर्षक और नीरस रेडियो वार्ताओंको ही समझा जाता है। रेडियो सुनते समय कोई वार्ता शुरू हुई नहीं कि मित्र कह बैठते हैं—'अरे, यह तो वार्ता शुरू हुई, कहीं दूसरी जगह लगाओ, कहीं गीत-वीत देखो।' पच्चीस वर्षोंके संगठित प्रसारणके बाद भी हमारे यहाँकी वार्ताओंमें इतनी शक्ति नहीं आ पायी है कि वे श्रोताओंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सकें। आदर्श प्रसारणकी दृष्टिसे विचार किया जाय तो विदेशी प्रसारण-केन्द्रोंको भी पूर्णतः सन्तोषजनक नहीं कहा जा सकता है। लियोनेल गेमलिन अपनी पुस्तक 'यू आर ऑन दि एयर' [प्रकाशन-काल : १९४०] में बी० बी० सी० के कार्यक्रमोंको आदर्श प्रसारणकी कसौटीपर परखते हुए कहते हैं—'यह स्वीकार करना पड़ेगा कि शताब्दीके लगभग चतुर्थांशके प्रसारणके बाद भी असफल कार्य-क्रमोंकी संख्या सफल कार्यक्रमोंकी अपेक्षा अधिक है।'

अपने यहाँ रेडियो-वार्ताओंको जो कलात्मक एवं आकर्षक रूप मिल जाना चाहिए था, वह नहीं मिल सका है, इसका मुख्य कारण यह है कि

मारे यहाँके अधिकाश लोगोंने यह स्वीकार नही किया है कि रेडियो-वार्त्ता ाहित्यका एक बिल्कुल नया रूप है—ऐसा रूप, जो रेडियोके आविष्कार- ; पूर्व नही था। लोग पहले रेडियो-नाटकको जैसे रंगमंच-नाटकसे भिन्न ही समझते थे, वैसे ही रेडियो-वार्त्ताको निबन्ध या लेखसे भिन्न नही मानते ै। यह प्रसन्नताकी बात है कि अब रेडियो-नाटक रंगमंच-नाटकसे भिन्न ामझा जाने लगा है। लेकिन रेडियो-वार्त्ताके सम्बन्धमें अभी ऐसी बात नही ै। अभी भी आकाशवाणी-केन्द्रोंमें पाद-टिप्पणियोंसे भरी ऐसी रचनाएँ ायाचित ही प्रसारणार्थ आती रहती हैं, जिन्हें लेख या प्रबन्धके अतिरिक्त ौर कुछ नही कहा जा सकता, और जिनका पाठ किया जाय, तो कम-से- कम ४०–५० मिनट अवश्य लगें। अभी भी ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जो ातचीतके प्रसंगमें कहते हैं—'मैं भी रेडियोमें एक निबन्ध प्रसारित करना चाहता हूँ।' यह बात नही कि ऐसे निबन्ध आकाशवाणीसे प्रसारित नही होते; होते हैं, और वार्त्ताके नामपर अधिकतर निबन्ध ही प्रसारित होते हैं। इस साधारण-सी बातपर भी ध्यान नहीं दिया जाता कि रेडियोसे प्रसारित रचनाएँ मात्र श्रव्य होती हैं, और उनकी सफलता अपने श्रव्य रूपमें ही बोधगम्य होनेमें है। उदाहरणके लिए कुछ प्रसारित वार्त्ताओंके अंश प्रस्तुत है। 'कलाके क्षेत्रमें : यथार्थ और कल्पना' शीर्षक वार्त्ताका एक अंश इस प्रकार है—

'इस प्रकार कला-सृष्टिका क्रमबद्ध रूप यों बनता है—

कला सृष्टि

मूल

: अन्तरका प्रहृष्ट आवेग या भाव :

शरीर

: यथार्थके साथ उस भावका सम्बन्ध

और रूप-ग्रहण :

प्राण

सौन्दर्य : आन्तर एवं बाह्य :
आत्मा
: रस :
सत्य या फल
: आनन्द :'

[आकाशवाणी प्रसारिका, अप्रैल-जून १९५६]

एक दूसरी वार्ता 'मरुस्थलमें मनोरंजनके साधन'का एक अंश उद्धृत है–

'इस प्रकार समाजका मनोरंजन करनेवाली उल्लेखनीय जातियाँ निम्न हैं—

१. कुचामण, परबतसरके कठपुतली नचानेवाले नट।
२. डीडवाना तथा परबतसरके आस-पास रहनेवाले तेरह तालवाले।
३. भालोर-बाड़मेर आदिके कच्छी घोड़ी नचानेवाले सरगरे कुम्हार बामी।
४. बीकानेर, चूरु, पोखरन तथा घुटेलके भोपे, हड़बूजीके भोपे, मेरुजीके भोपे और गोगाजीके भोपे।
५. जैसलमेर, बाड़मेरके संधे तथा मिरासी।
६. भालोरके सरगरे तथा ढोली।

उपर्युक्त सब जातियोका प्रमुख कार्य, गायन, वादन, नृत्य और नाट्य द्वारा अपने यजमानोंका मनोरंजन करना है।'

[आकाशवाणी प्रसारिका, जनवरी-मार्च १९५६]

पहला उद्धरण अपने श्रव्य रूपमें कैसे बोध्यगम हो सकता है, इसकी कल्पना नही की जा सकती। दूसरे उद्धरणमें जो इतने नाम एक साथ गिनाये गये हैं, उन्हें केवल एक बार सुनकर श्रोता क्या उन्हें स्मरण रख सकता है? १, २, ३ आदि क्रमाकोंके पाठसे श्रोता क्या यह नही समझेगा कि वार्त्ताकार उससे बातचीत न कर उसे अपना निबन्ध सुना रहा है? इस

रेडियो-वार्ताओंकी वर्तमान स्थिति सन्तोषजनक नहीं है, पर इसे परिवर्तित किया जा सकता है। वार्ताओंका स्वभाव नीरस और अनाकर्षक रहना नहीं है। सच कहा जाय, तो वार्ताओंका स्वभाव सरस और मनोरंजक होना ही है। चार मित्र एक साथ बैठते हैं, और आपसमें बातें करते हैं। क्या ये बातें नीरस होती हैं? बात करनेकी कला जाननेवाला कोई मित्र अपने अनुभव सुनाने लगता है, कभी-कभी गम्भीर विषयोंकी भी चर्चा छेड़ देता है, तो क्या इससे वार्तालापमें नीरसता आ जाती है? कदापि नहीं। रेडियोने तो हमें साहित्य प्रेमियोंका ऐसा अद्भुत साधन उपलब्ध करा दिया है कि हम एक स्थानपर बैठे हुए ही साथ हजारों लाखों व्यक्तियोंको अपने अनुभव सुना सकें, उन्हें अपने विचारोंसे अवगत करा सकें। लेकिन यह तभी सम्भव है, जब हम रेडियोके माध्यमकी अपेक्षाओंको, उसकी सीमाओं और सम्भावनाओंको समझें। आँखोंके दृश्य माध्यमके लिए लिखित रचनाओंको रेडियोके श्रव्य माध्यमसे प्रस्तुत करनेसे ऐसा नहीं होगा। संगीतका आनन्द हम आँखोंसे लेनेका प्रयास नहीं करते, पर आँखोंके लिए लिखित रचनाओंका आनन्द हम कानोंको देना चाहते हैं। हमारे यहाँकी रेडियो-वार्ताओंकी असफलताका यही रहस्य है। बी० बी० सी० के अनुभवी

वार्त्ताकारोने रेडियोके श्रव्य माध्यमकी अपेक्षाओंको समझा हैं, और उनके अनुरूप कार्य किया हैं। इसीलिए डेसमण्ड मेकार्थी, वालफोर्ड डेविस, ए० जे० एलन, जे० बी० प्रीस्टली आदि प्रसिद्ध वार्त्ताकारोंको लोग उत्सुकताके साथ सुनते रहे हैं।

रेडियो-वार्त्ताकारको सर्वप्रथम यह स्वीकार करना पड़ेगा कि रेडियो-वार्त्ता नये प्रकारकी रचना है, निबन्धसे यह बिलकुल भिन्न है। लिखित होनेपर भी यह मात्र श्रव्य है। जिस प्रकार कोई भी नाटक रेडियो-नाटक कहकर प्रसारित नही किया जा सकता, उसी प्रकार कोई भी निबन्ध वार्त्ता कहकर नही प्रसारित किया जा सकता। मुद्रित निबन्ध और प्रसारित वार्त्तामें अन्तर है। जैसे प्रसारणके लिए रगमंच-नाटकको रेडियो-नाटयके रूपमें रूपान्तरित करना पडता है, उसी प्रकार निबन्धको भी यदि हम प्रसारित करना चाहें ही, तो उसे वार्त्ताके रूपमें रूपान्तरित करना पड़ेगा। इसे उदाहरणसे स्पष्ट किया जा सकता है।

एक सज्जनको पचवर्षीय योजनाओमे सचार एवं परिवहनके विकास पर वार्त्ता प्रसारित करनेके लिए आमन्त्रित किया गया। उनकी वार्त्ता, जो वास्तवमें एक निबन्ध ही थी, का प्रारम्भिक अंश इस प्रकार था—

'शरीर-रचनामें जो स्थान शिराओ एवं धमनियोका है, वही स्थान राष्ट्रके जीवनमें सचार एव परिवहनका है। आर्थिक, युद्ध-सम्बन्धी, प्रशासकीय, सास्कृतिक एवं सामाजिक, सभी दृष्टियोसे संचार एवं परिवहन राष्ट्रके समुत्थानके लिए अनिवार्य तत्त्व है। कदाचित् इसी दृष्टिकोणसे ब्रिटिश शासकोने उन्नीसवी शताब्दीमें ही भारतवर्षमे संचार एवं परिवहनका कार्य आरम्भ कर दिया था। तबसे इन साधनोका निरन्तर विकास होता रहा है और अद्यावधि इस क्षेत्रमें आशातीत विकास हुआ है।

स्वाधीनता-प्राप्तिके बाद संचार एव परिवहनके साधनोका विकास उल्लेखनीय गतिसे हुआ है। प्रथम पंचवर्षीय योजनामें कृषि, सिचाई और शक्तिके साधनोके साथ परिवहन और संचारका स्थान भी विकासके तीन

सर्वप्रमुख क्षेत्रोंमें रखा गया। इस योजनामें संचार एवं परिवहनके साधनोंके विकासके लिए अनुमानतः ५३१.४६ करोड रुपयोंका व्यय हुआ।

देशमें संचार और परिवहनके प्रसारके लिए सरकारने उदार नीति अपनायी है। प्रथम योजनावधिमें डाक-तार विभागके लिए प्रायः ३९.५ करोड रुपये खर्च किये गये हैं। सरकारकी यही योजना थी कि दो हजार जनसंख्यावाले, दो मीलके अन्तरपर बसे हुए प्रत्येक गाँवमें डाकघर खोले जाएँ। इस योजनाके अनुसार डाकघरोंकी संख्या ३६ हजारसे बढकर ५५ हजार हो गयी। द्वितीय पंचवर्षीय योजनाके अन्तर्गत लगभग २० हजार और डाकघर खोलनेका लक्ष्य है।'

निबन्धका यह अंश वार्ताके रूपमें परिवर्तित होनेपर इस प्रकार हुआ—

'आपने कभी सोचा है, हमारा शरीर किस प्रकार सुचारु रूपमें काम करता है? यह हमारी शिराओं, धमनियों और स्नायुओंका प्रभाव है। इन्हींके जरिये एक जगहका खून दूसरी जगह पहुँचता है, एक स्थानकी चेतना दूसरे स्थानपर पहुँचती है। इन्हींकी प्रेरणासे हम जीवित हैं, और सुचारु रूपसे काम कर रहे हैं। कोई राष्ट्र भी सुचारु रूपसे काम करे, इसके लिए जरूरी है कि उसके शरीरमें भी शिराएँ हों, धमनियाँ हों, स्नायु हों। आपका समाचार आपसे तीन सौ मील दूर रहनेवाले आपके मित्रोंके पास पहुँच सके, आपके खानेके लिए पंजाबका गेहूँ आपके पास आ सके, शासन चलानेके लिए दिल्लीका आदेश पटना, पटनाका आदेश आरा, गया, दरभंगा आदि शहरोंमें पहुँच सके, खतरेकी घडीमें देशकी सेना एक छोरसे दूसरे छोरपर आ सके, आपके मनोरंजनके लिए बननेवाली फिल्में बम्बईसे आपके नगरमें आ सकें—इस सबके लिए साधन चाहिए, संचार और परिवहनके साधन—रेल, तार, डाक, सड़क, हवाई जहाज वगैरह। ये ही राष्ट्रके शरीरकी शिराएँ, धमनियाँ और स्नायु हैं। राष्ट्रका जीवन और स्वास्थ्य इन्हींपर निर्भर करता है। आजादी मिलनेके बाद हमारी

राष्ट्रीय सरकारने इनके महत्त्वको समझा है, और इनके विकासके लिए लगातार कोशिश करती रही है। पहली पंचवर्षीय योजनामें जिन तीन प्रमुख क्षेत्रोंके विकासपर विशेष जोर दिया गया, उनमें कृषि, सिंचाई और शक्तिके साथ-साथ संचार और परिवहनका भी स्थान था। इनके विकास-पर लगभग पाँच सौ इक्कीस दशमलव चार, छः करोड़ रुपये खर्च किये गये। इसे हम यों भी कह सकते हैं कि देशके हर आदमीके लिए लगभग पन्द्रह रुपये खर्च किये गये। इसीसे पता चल सकता है कि संचार और परिवहनको कितना महत्त्वपूर्ण समझा गया।

अब हम इनके विकासपर अलग-अलग ध्यान दें। सबसे पहले डाक-घरोंके विकासको देखें। भारत गाँवोंका देश है, गाँव-गाँवमें शिक्षा और ज्ञानका प्रकाश पहुँच सके, इसके लिए गाँवोंमें डाकघरोंके विकासको जरूरी समझा गया। डाकखाने खोलनेके लिए काफी उदार नीति अपनायी गयी। पहली पंचवर्षीय योजनामें यह लक्ष्य रखा गया कि हर ऐसे गाँवमें, जिसकी आबादी दो हजार या उससे अधिक हो, एक डाकघर खुले, और ऐसा हुआ भी। दूसरी पंचवर्षीय योजनामें, गाँवोंको और सुविधा देनेके लिए, यह तय किया गया कि दो मीलके घेरेमें रहनेवाले ऐसे दो-तीन गाँवोंको मिला कर भी जिनकी आबादी दो हजार या उससे अधिक हो, एक डाकखाना खुले; हाँ, निकटके दूसरे डाकखानेसे उसकी दूरी कम-से-कम तीन मील जरूर हो। इस योजनाके अनुसार काम हो रहा है। पहली योजनाके शुरूमें डाकघरोंकी संख्या केवल छत्तीस हजार थी, योजनाके खतम होते-होते वह पचपन हजार हो गयी, यानी पाँच वर्षोंमें उन्नीस हजार डाकघर खुले, यानी देशमें हर रोज बारहसे भी अधिक डाकघर खोले गये।'

ऊपर एक ही सामग्री दो रूपोंमें प्रस्तुत की गयी है, और उन्हें देखनेसे स्पष्ट ज्ञात हो सकता है कि दोनोंमें कितना अन्तर है। एक मुद्रणके दृश्य माध्यमके लिए है, दूसरा रेडियोके श्रव्य माध्यमके लिए। एक निबन्ध है, दूसरा, वार्ता। रेडियोसे वार्ता ही प्रसारित होनी चाहिए, निबन्ध नहीं।

वार्ताको हम 'बातचीत' भी कहते हैं। अंग्रेजीमें इसका पर्याय 'रेडियो-टॉक' (Radio Talk) है।

निबन्ध और रेडियो-वार्ताका अन्तर स्पष्ट करनेके बाद यह दुहरानेकी आवश्यकता नहीं रह जाती कि रेडियो-वार्ता साहित्यका एक बिलकुल नया रूप है। यद्यपि इसका रूप लिखित होता है, पर यह दृश्य और पाठ्य नहीं, केवल श्रव्य है। अन्य लेखकोंकी भाँति रेडियो-वार्ताकार भी लिखता है, लेकिन यह ध्यानमें रखकर लिखता है कि उसकी रचना पाठकों और दर्शकोंके पास नहीं, श्रोताओंके पास पहुँचनेवाली है, अतः उसे अपने श्रव्य रूपमें प्रभावशाली होना चाहिए। रेडियोके श्रव्य माध्यमकी सीमाओं और शक्तियोंसे परिचित होकर ही कोई व्यक्ति रेडियो-वार्ता-लेखन एवं प्रसारण में सफल हो सकता है।

कलापर अवश्य ही पड़ता है। बड़ी-बड़ी सभाओंमें भाषण देनेवाले वक्ताओंको इसका अनुभव सदा होता रहता है, और वे अपने सम्मुख बैठे श्रोताओंकी प्रतिक्रियाओंके अनुरूप अपनी कलामें परिवर्तन करनेका प्रयत्न करते चलते है। आलोचक ब्रैंडर मैथ्यूजने नाटकोंके सम्बन्धमें जो कहा है कि 'रंगमंच समूहका कार्य है, तथा नाटककारकी कृति उन दर्शकोंसे भी प्रभावित होती रहती है, जिनके लिए नाटक प्रस्तुत किया जाता है,' वह प्रत्यक्ष भाषणोके लिए भी अक्षरशः सत्य है। रेडियोपर बोलनेवाला व्यक्ति वक्तृत्व-कलाकी इस विशेषताका उपयोग नहीं कर सकता। वह अन्धकारमें अपने शब्दोके तीर चलाता जाता है, और समझ नहीं पाता कि वे कहीं लगते भी हैं या नहीं। रेडियो-वार्त्ताकारको इस सीमाका भी खण्डन करना होता है।

यहीं एक बात यह कह दी जाय कि रेडियो-वार्त्ता प्रत्यक्ष भाषणसे बिलकुल भिन्न है। यह समूहका कार्य नहीं है, व्यक्तियोंका कार्य है—अधिकसे-अधिक दो-दो, चार-चार व्यक्तियोंसे बनी गोष्ठियोंका कार्य है। इन दोनोंमे जो अन्य अन्तर हैं, उनको चर्चा हम यथास्थान बादमें करेंगे, लेकिन अभी जो कहा गया है, उसके आधारपर यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि रेडियो-वार्त्ताको 'रेडियो-भाषण' कहना उचित नहीं है। बहुत लोग रेडियोपर भाषण देनेकी बात किया करते हैं; रेडियो-शिल्पपर लिखी एक हिन्दी पुस्तकमें भी इसे 'रेडियो-भाषण' कहा गया है। इस प्रकारका भ्रमोत्पादक नामकरण रेडियो-वार्त्ताके स्वरूपको समझनेमें बाधक होगा। जैसा पहले कहा जा चुका है, अंग्रेजीमें भी इसे 'रेडियो-टॉक' [Radio Talk] ही कहते है, 'रेडियो-स्पीच' [Radio Speech] या अन्य कुछ नहीं।

अब फिर हम अपने मूल विषयपर आयें। एकान्त भाषण तथा श्रोताकी प्रतिक्रियाके अभावमें यह आशंका रहती है कि वार्त्ताकार कहीं मंत्रवत् न हो जाय, दो-चार मित्रोंकी गोष्ठीमें बातें करते समय उसमें जो मानवी-

यता और सप्राणता रहती है, वह यहाँ लुप्त न हो जाय। अट्ठारहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध अंग्रेज वक्ता चेस्टरफील्डने कहा है—'तुम जिस व्यक्तिसे बातें कर रहे हो, उसकी सच्ची भावनाओंको जानना चाहते हो, तो उसके चेहरेको देखो; वह अपने शब्दोंको सरलतासे नियंत्रित कर सकता है, मगर अपनी भावनाओंको नहीं।' छोटी गोष्ठीमें बातें करते समय किसी वक्ताकी वाणीमें जो सजीवता रहती है, उसका यही कारण है; वह प्रतिक्षण अपने मित्रोंकी मुखाकृतिसे प्रभावित होता रहता है। रेडियो-वार्त्ताकार इस सजीवताको किस प्रकार बनाये रख सके, यह उसके लिए एक समस्या है।

अब हम मुद्रित निबन्धकी तुलनामें रेडियो-वार्त्ताकी कुछ सीमाओंपर विचार करेंगे। कवि बायरनने कहा था—'कोई भी हाथ मेरे लिए अब घड़ीसे वह समय नहीं बजा सकता, जो गुजर गया।' रेडियो-वार्त्ताका श्रोता भी कोई वार्त्ता सुनकर यही कह सकता है। रेडियो-वार्त्ता भी, अन्य रेडियो-कार्यक्रमोंकी तरह ही, गुजरे हुए समयकी भाँति वापस नहीं आती; वह घड़ीके एक-एक सेकेंडके साथ आगे बढ़ती जाती है, पीछे नहीं लौटती। फलत. यदि कुछ पंक्तियाँ श्रोताकी समझमें नहीं आतीं, तो वह उन्हें दुबारा नहीं सुन सकता। इसके विपरीत यदि उसे मुद्रित निबन्धके कुछ वाक्योंको समझनेमें कठिनाई हो सकती है, तो वह उन्हें एक ही बार नहीं, सौ बार पढ़नेको स्वतंत्र है। वह चाहे, तो पहले पढ़े हुए पृष्ठोंको फिरसे उलटकर देख सकता है। रेडियो वार्त्ताका श्रोता इस दृष्टिसे विवश है। उदाहरणके लिए, यदि वह रेडियोपर ये पंक्तियाँ सुनता है—

'मानव-जीवनमें दुख-वेदना और कष्टका प्रश्न, उससे पलायन, उसके भोग या उसमें सार्थकता खोजनेका प्रयास, व्यक्तिके आत्म-साफल्य और उसकी सामाजिक उपयोगिताका प्रश्न, नैतिक मूल्योंके एक नये परिमाण खोजनेकी आवश्यकता, जीवन-प्रक्रिया में आत्म-निषेध या आत्मोपलब्धिके बीचमें श्रद्धाकी एक स्थायी भूमि खोज पानेका प्रयास, कुछ लोगोंको अत्यन्त अप्रिय शब्दावलीका प्रयोग करूँ तो तेजीसे घूमते हुए चक्रकी एक स्थिर धुरी

भोजनकी प्यास—ये सभी प्रश्न बड़े ही सांकेतिक ढंगसे जैनेन्द्रने 'सुनीता'में उठाये हैं।' [सारंग, २२ अक्टूबर १९५७]

और, इनकी सम्भावनाओंको पूर्णतः समझ नहीं पाता, अथवा वाक्यकी समाप्तिके बाद फिरसे यह जानना चाहता है कि 'सुनीता' में कौन-कौन-से प्रश्न उठाये गये हैं, तो उसकी इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती। ये पंक्तियाँ उसे फिरसे नहीं सुनायी पड़ेंगी। श्रोताकी यह विवशता भी रेडियो-वार्ताकारकी एक बहुत बड़ी सीमा है।

श्रोता किसी वार्ताको दुबारा नहीं सुन सकता, यह तथ्य रेडियो-वार्ता तथा मुद्रित निबन्धके एक और अन्तरकी ओर संकेत करता है। मुद्रित निबन्ध एक पूर्ण रचना होता है, वह अपने समग्र रूपमें पाठकको उपलब्ध रहता है। पर रेडियोके श्रोताको कोई कृति पूर्णतः संगठित एवं सम्पूर्ण रूपमें स्वतः नहीं उपलब्ध होती, उसे इसके लिए स्वयं परिश्रम करना पड़ता है। उसे सुने हुए एक-एक वाक्यको जोड़कर पूर्ण संगठित कृति निर्मित करनी पड़ती है। वह एक-एक वाक्य सुनता हुआ क्रमशः आगे बढ़ता जाता है। वह वार्ताको मुद्रित निबन्धकी भाँति एक बार ही समग्र रूपमें नहीं देख सकता, जिससे कठिन अंशोंको फिरसे दुहरा कर समझ सके। रेडियो-वार्ताकी इस दुर्बलताको वार्ताकार कैसे दूर करे, वह क्या करे कि वार्ताका सामूहिक प्रभाव श्रोतापर मुद्रित रचनाओंसे किसी प्रकार कम न पड़े, यह उसके लिए एक कठिन प्रश्न है।

समग्र प्रभावकी जो बात अभी कही गयी, उसका सम्बन्ध श्रोताकी स्मरण-शक्तिसे भी है। श्रोता किसी वार्तामें आये सभी वाक्योंको स्मरण नहीं रख सकता। साहित्यका लिखित रूप हमारी स्मरण-शक्तिका सहायक होता है, पर उसके श्रव्य रूपमें इस विशेषताका अभाव रहता है। रेडियो-वार्ताके सम्बन्धमें आलोचक रोजर मेनवेलका विचार है कि 'प्रसारित वार्ता श्रुत रूपमें, श्रोताके विचार-प्रवाहमें एक-एक वाक्य करके रहती है, और उसके बाद विस्मृत होती हुई स्मृतिकी टेढ़ी-मेढ़ी राहोंमें प्रवेश करती है।

फलत: वार्ताकी समाप्तिपर सामान्य श्रोताके लिए वार्ताके प्रारम्भ एवं विकासके विषयमें निश्चित रूपसे कुछ कह सकना कठिन होता है।' रेडियो-श्रोताकी यह ऐसी मनोवैज्ञानिक अक्षमता है, जिसपर विचार करना रेडियो-वार्ताकारका कर्तव्य हो जाता है।

रेडियो-कार्यक्रम जिस वातावरणमें सुने जाते हैं, वह भी वार्ताकारके लिए विचारणीय विषय है। हम अपने व्यावहारिक जीवनमें देखते हैं कि रेडियो-श्रवणका वातावरण शायद ही कभी और किसीके यहाँ बिलकुल शान्त रहता है। ऐसे कम ही लोग मिलेंगे, जो कमरेके दरवाज़े बन्द कर शान्तिके साथ कार्यक्रम सुनते हैं। होता अधिकतर यह है कि लोग कार्यक्रम भी सुनते रहते हैं, आपसमें कभी-कभी बातें भी करते जाते हैं, दूसरी तरफ बच्चोंका शोरगुल भी होता रहता है, बीच-बीचमें टेलीफोनकी घण्टी भी बजती रहती है, कमरेमें इधर-उधरकी दूसरी आवाजें भी आती रहती हैं। इसके विपरीत यदि हमें मुद्रित साहित्य पढ़ना होता है, तो एकान्तमें शान्ति-पूर्वक पढ़नेका प्रयत्न करते हैं। पढ़नेका काम लोगोंकी भीड़ और तरह-तरहकी हलचलोंमें नहीं होता। रेडियो-वार्ताकार रेडियो-श्रवणके इस बाधक वातावरणका किस प्रकार सामना करे, यह भी एक समस्या है।

रेडियो-वार्ताकारके सम्मुख इतनी सारी कठिनाइयाँ हैं उसके पास केवल वाणी है, अभिव्यक्तिके दूसरे दृश्य साधन नहीं है, श्रोताके पास केवल श्रवण है, दृष्टि नहीं है, और वे श्रवण भी प्रसारित रचनाओंको केवल एक ही बार सुन सकते हैं; श्रोताकी स्मरण-शक्ति भी वार्ताको सम्पूर्णत: स्मरण रखनेमें अक्षम है; और, श्रोता जिस वातावरणमें कार्यक्रम सुनता है, वह भी प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। वार्ताकारको इन सीमाओंको खण्डित करना है। उसकी सहायता करनेवाले साधन बड़े सीमित हैं: भाषाकी शक्ति, मनोविज्ञानसे उपलब्ध ज्ञान, लेखन-कौशल, ध्वनि और प्रसारण-शैली। इन सबका वह किस प्रकार अधिकाधिक सफलताके साथ उपयोग कर सकता है, इसका विवेचन हम अगले अध्यायोंमें करेंगे।

रेडियो-वार्त्ता और भाषित शब्द

देवराज इन्द्रने दानी कर्णसे उसके उन कवच-कुण्डलोंको, जिनपर उसक जीवन निर्भर था, माँग कर उनके बदलेमें उसे एक ऐसा अस्त्र दिया था जिसका वार विफल नहीं हो सकता था, पर कर्ण-द्वारा उसका व्यवहार एव ही बार सम्भव था। लेकिन रेडियोने अभिव्यक्तिसे उसके लिखित एवं दृश्य सभी साधनोंको छीनकर उनके स्थानपर उसे भाषित शब्दोंका जो अस्त्र दिया है, वह एक ही नहीं, असंख्य बार व्यवहृत हो सकता है, और यह व्यवहार समुचित ढंगसे किया जाय, तो इसका वार भी कभी निष्फल नहीं जायगा। भाषित शब्दोंकी शक्ति अपरिमित है। लिखित शब्दोंमें वह क्षमता नहीं है, जो उच्चरित शब्दोंमें होती है। व्याकरण महाभाष्यके टीकाकार कैयटने कहा है—'ठीक तरहसे जाना हुआ और ठीक तरहसे प्रयुक्त हुआ एक शब्द स्वर्ग और लोकके मनोरथको पूर्ण करनेवाला होता है।' हम स्वर्गकी बात तो नहीं जानते, पर शब्दोंकी शक्तिका समुचित ज्ञान और व्यवहार इस लोकके मनोरथोंको पूर्ण करनेवाला हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं। रेडियोसे अभिव्यक्तिका एक मात्र माध्यम यह शब्द ही है। रेडियो-नाटक, रेडियो-रूपक आदिमें तो संगीत और ध्वनिप्रभावोंका भी व्यवहार होता है, पर रेडियो-वार्त्ताका एक मात्र साधन शब्दोंका भाषित रूप ही है। इसकी शक्तिको समझकर रेडियो-माध्यममें अप्राप्य साधनोंकी पूर्ति की जा सकती है।

रेडियोने भाषित शब्दोंकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कर सचमुच हमें नयी शक्ति दी है, हमारी भाषाकी खोयी हुई शक्तिको हमें फिर वापस कर दिया है। अपने जन्मके समय भाषाको अद्भुत शक्ति मिली थी—अपने विचारों एवं भावनाओंके प्रत्यक्ष अभिव्यजनकी शक्ति। वाणी इस शक्तिका आधार थी। वाणीके द्वारा ही भाषाका जन्म हुआ। भाषाका प्रारम्भिक रूप मौलिक ही था। मनुष्यने पहले बोलना सीखा, उसके बाद लिखना। बोली और सुनी हुई भाषामें भावाभिव्यंजनकी जो शक्ति है, वह लिखी और पढी जानेवाली भाषामें नहीं है। हम जानते हैं कि शब्द हमारी भावनाओं-अनुभूतियोंके मूर्तिमान् रूप हैं; इन्हींकी शक्तिसे वे जीवित रहते हैं। शब्दोंके उच्चरित रूपको हमारे भाव और विचार ही सजीव एवं प्राणवन्त बनाये रखते हैं, लेकिन उनके लिखित रूपमें यह बात नहीं रह जाती, उन्हें सजीव बनाये रखनेवाली हमारी अनुभूतियाँ उनके पीछेसे हट जाती हैं। यही कारण है कि किसीके प्रत्यक्ष भाषणमें हमें जिस सप्राणताके दर्शन होते हैं, वह उसीके लिखित एवं मुद्रित रूपमें नहीं मिलती। फ्रेंच लेखक लोरेनका कथन अक्षरशः सत्य है कि 'छपा हुआ भाषण सूखे हुए फूलकी तरह होता है : उसका मूल-तत्त्व उसमें रहता है, पर उसका रंग धूमिल पड़ जाता है, और सुगन्ध उड़ जाती है।' ठीक यही बात प्रो० बुचर भी कहते हैं—'शब्द अपनी उच्चरित शक्तिसे वंचित होनेपर, अपने मुद्रित रूपमें केवल अर्द्धजीवित रहते हैं।'

भाषाकी शक्ति और किस प्रकार खो गयी है, इसपर एक और दृष्टिसे विचार कर लें। भाषाका तात्पर्य केवल शब्दोंसे ही नहीं होता, शब्दोंके परे अन्य साधनोंसे भी होता है। अभिव्यक्तिके कुछ साधनोंकी चर्चा हम पहले कर आये हैं। उनकी और उन्हींके साथ कुछ और साधनोंकी चर्चा हम यहाँ डॉ० श्यामसुन्दरदासके शब्दोंमें करना चाहते हैं—'भाषाका शरीर उन व्यक्त ध्वनियोंसे बना है, जिन्हें 'वर्ण' कहते हैं, पर उसके कुछ सहायक अंग भी होते हैं। आँख और हाथके इशारे असभ्य और जंगली लोगोंमें तो

पाये ही जाते हैं, हमलोग भी आवश्यकतानुसार इन संकेतोंसे काम लेते हैं। किसी अन्य भाषा-भाषीसे मिलनेपर प्रायः अपूर्ण उच्चारण अथवा अपूर्ण शब्द-भाण्डारकी पूर्ति करनेके लिए हमें संकेतोंका प्रयोग करना पड़ता है। बहरे और गूँगोंसे संलाप करनेमें उनकी संकेतमय भाषाका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मुख-विकृति भी भाषाका दूसरा अंग मानी जा सकती है। गर्व, घृणा, क्रोध, लज्जा आदिके भावोंके प्रकाशनमें मुख-विकृति-का बड़ा सहयोग रहता है। एक क्रोधपूर्ण वाक्यके साथ ही वक्ताकी आँखों-में भी क्रोध देख पड़ना साधारण बात है। बातचीतसे मुखकी विकृति अथवा भाव-भंगीका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि अन्धकारमें भी हम किसीके शब्दोंको सुनकर उसके मुखकी भाव-भंगीकी कल्पना कर लेते हैं। ऐसी अवस्थाओंमें प्रायः कहनेका ढंग अर्थात् आवाज [tone of voice] हमारी सहायता करती है। बिना देखे भी हम दूसरेकी 'भारी आवाज' 'भरी आवाज' अथवा 'भर्राये' और 'टूटे' स्वरसे उसके वाक्योंका भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया करते हैं। इसीसे लहजा, आवाज [tone] अथवा स्वर-विकार भी भाषाका एक अंग माना जाता है। इसे वाक्-स्वर भी कह सकते हैं। इसी प्रकार स्वर [अर्थात् गीतात्मक स्वराघात], बल-प्रयोग और उच्चारणका वेग [अर्थात् प्रवाह] भी भाषाके विशेष अंग होते हैं।—कहनेकी आवश्यकता नहीं कि लेखन-कला और मुद्रण-कलाके आविष्कारने भाषाको उसके इन सभी अंगोंसे विच्छिन्न कर दिया है, जिससे निस्सन्देह भाषा अपनेको असहाय अनुभव करने लगी है। जो भाषा जितनी ही पुरानी है और परम्परागत प्रयोगोंके कारण जिसकी शब्द-शक्ति जितनी ही घिस गयी है, उसे उतना ही अधिक अपनी शक्ति-हीनताका अनुभव होता है, और वह उसे दूर करनेके लिए अपनी शैलीका संस्कार करती दिखायी पड़ती है। अंग्रेजीके सम्बन्धमें कवि एवं नाटककार [illegible] का विचार है कि 'अंग्रेजी', जिसका साहित्य इतना पुराना है, और जिसकी [illegible] शैली प्रयोगोंके कारण अशक्त हो गयी है, जो आज [illegible]

लेखनके लिए उपचार-वक्रता—सीधे-सादे वक्तव्यों और घिसे-पिटे चित्रोंको टेढे ढंगसे कहनेकी शैली—पर निर्भर करना पड रहा है।' उनके अनुसार मुद्रित पृष्ठपर ऐसा करनेके लिए सतत कौशल-प्रदर्शनकी अपेक्षा है, पर उच्चरित शब्दोंके द्वारा जिसे सहज ही किया जा सकता है।

इसी प्रसंगमें 'अज्ञेय' की ये पंक्तियाँ भी उद्धृत की जा सकती हैं—'भाषाको अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतोंसे, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों-से, छोटे-बडे टाइपोंसे, सीधे या उलटे अक्षरोंसे, लोगों और स्थानोंके नामों-से, अधूरे वाक्योंसे—सभी प्रकारके इतर साधनोंसे कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदनाकी सृष्टिको पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।' इसके उदाहरण-स्वरूप देशी-विदेशी अत्याधुनिक कविताके अनेकानेक अंश उद्धृत किये जा सकते हैं। हिन्दीकी एक कविताका अंश प्रस्तुत है—

मैं—
—ने
[अर्थात् हम–ने]
इन्हें अपने चरित्रके गर्भमें धारण किया,
जाने, या अटूट कुछ क्षणोंमें अनजाने हो
इनका संधारण
मनसा,
वाचा,
कर्मणा
सम्भावित हुआ।
और,
फिर उसी तरह,
शत,
सहस्र,
अभिव्यक्तियों,

पाये ही जाते हैं, हमलोग भी आवश्यकतानुसार इन संकेतोंसे काम लेते हैं। किसी अन्य भाषा-भाषीसे मिलनेपर प्रायः अपूर्ण उच्चारण अथवा अपूर्ण शब्द-भाण्डारकी पूर्ति करनेके लिए हमें संकेतोंका प्रयोग करना पड़ता है। बहरे और गूँगोंसे संलाप करनेमें उनकी संकेतमय भाषाका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मुख-विकृति भी भाषाका दूसरा अंग मानी जा सकती है। गर्व, घृणा, क्रोध, लज्जा आदिके भावोंके प्रकाशनमें मुख-विकृतिका बड़ा सहयोग रहता है। एक क्रोधपूर्ण वाक्यके साथ ही वक्ताकी आँखोंमें भी क्रोध देख पड़ना साधारण बात है। बातचीतसे मुखकी विकृति अथवा भाव-भंगीका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि अन्धकारमें भी हम किसीके शब्दोंको सुनकर उसके मुखकी भाव-भंगीकी कल्पना कर लेते हैं। ऐसी अवस्थाओंमें प्रायः कहनेका ढंग अर्थात् आवाज [tone of voice] हमारी सहायता करती है। बिना देखे भी हम दूसरेकी 'कड़ी आवाज' 'भरी आवाज' अथवा 'भर्राये' और 'टूटे' स्वरसे उसके वाक्योंका भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया करते हैं। इसीसे लहजा, आवाज [tone] अथवा स्वर-विकार भी भाषाका एक अंग माना जाता है। इसे वाक्य-स्वर भी कह सकते हैं। इसी प्रकार स्वर [अर्थात् गीतात्मक स्वराघात], बल-प्रयोग और उच्चारणका वेग [अर्थात् प्रवाह] भी भाषाके विशेष अंग होते हैं।'—कहनेकी आवश्यकता नहीं कि लेखन-कला और मुद्रण-यन्त्रके आविष्कारने भाषाको उसके इन सभी अंगोंसे विच्छिन्न कर दिया है, जिसके फलस्वरूप भाषा अपनेको अशक्त अनुभव करने लगी है। जो भाषा जितनी ही पुरानी है और परम्परागत प्रयोगोंके कारण जिसकी शब्द-शक्ति जितनी ही घिस गयी है, उसे उतना ही अधिक अपनी शक्ति-क्षीणताका अनुभव होता है, और वह उसे दूर करनेके लिए अपनी शैलीका संस्कार करती दिखायी पड़ती है। अंग्रेजीके सम्बन्धमें कवि एवं नाटककार लुई मैकनीस का विचार है कि 'अंग्रेजी, जिसका साहित्य इतना पुराना है, और जिसकी शैली प्रयोगोंसे इतनी अश्लील हो गयी है, जो आज भावात्मक

लिखनेके लिए उपचार-करना—सीधे-सादे वक्तव्यों और घिसे-पिटे विशेषणोंको टेढ़े ढंगसे कहनेकी शैली—पर निर्भर करना पड़ रहा है।' उनके अनुसार मुद्रित पृष्ठपर ऐसा करनेके लिए सतत कौशल-प्रदर्शनकी अपेक्षा है, पर उच्चरित शब्दोंके द्वारा जिसे सहज ही किया जा सकता है।

इसी प्रसंगमें 'अज्ञेय' की ये पंक्तियाँ भी उद्धृत की जा सकती हैं—'भाषाको अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतोंसे, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों-से, छोटे-बड़े टाइपोंसे, सीधे या उल्टे अक्षरोंसे, लोगों और स्थानोंके नामों-से, अधूरे वाक्योंसे—सभी प्रकारके इतर साधनोंसे कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदनाकी सृष्टिको पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।' इसके उदाहरण-स्वरूप देशी-विदेशी अत्याधुनिक कविताके अनेकानेक अंश उद्धृत किये जा सकते हैं। हिन्दीकी एक कविताका अंश प्रस्तुत है—

मैं—
—ने
[अर्थात् हम—ने]
इन्हें अपने चरित्रके गर्भमें धारण किया,
जाने, या बहुत कुछ अंशोंमें अनजाने ही
इनका संधारण
मनसा,
वाचा,
कर्मणा
सम्भावित हुआ।
और,
फिर उसी तरह,
शत,
सहस्र,
अभिव्यक्तियाँ,

पाये ही जाते हैं, हमलोग भी आवश्यकतानुसार इन संकेतोंसे काम लेते हैं। किसी अन्य भाषा-भाषीसे मिलनेपर प्रायः अपूर्ण उच्चारण अथवा अपूर्ण शब्द-भाण्डारकी पूर्ति करनेके लिए हमें संकेतोंका प्रयोग करना पड़ता है। बहरे और गूँगोंसे संलाप करनेमें उनकी संकेतमय भाषाका ज्ञान आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार मुख-विकृति भी भाषाका दूसरा अंग मानी जा सकती है। गर्व, घृणा, क्रोध, लज्जा आदिके भावोंके प्रकाशनमें मुख-विकृति-का बड़ा सहयोग रहता है। एक क्रोधपूर्ण वाक्यके साथ ही वक्ताकी आँखों-में भी क्रोध देख पड़ना साधारण बात है। बातचीतसे मुखकी विकृति अथवा भाव-भंगीका इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होता है कि अन्धकारमें भी हम किसीके शब्दोंको सुनकर उसके मुखकी भाव-भंगीकी कल्पना कर लेते हैं। ऐसी अवस्थाओंमें प्रायः कहनेका ढंग अर्थात् आवाज [tone of voice] हमारी सहायता करती है। बिना देखे भी हम दूसरेकी 'बड़ी आवाज' 'भरी आवाज' अथवा 'मर्राये' और 'टूटे' स्वरसे उसके वाक्योंका भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया करते हैं। इसीसे लहजा, आवाज [tone] अथवा स्वर-विकार भी भाषाका एक अंग माना जाता है। इसे वाक्य-स्वर भी कह सकते हैं। इसी प्रकार स्वर [अर्थात् गीतात्मक स्वराघात], बल-प्रयोग और उच्चारणका वेग [अर्थात् प्रवाह] भी भाषाके विशेष अंग होते हैं।—कहनेकी आवश्यकता नहीं कि लेखन-कला और मुद्रण-यन्त्रके आविष्कारने भाषाको उसके इन सभी अंगोंसे विच्छिन्न कर दिया है, जिससे फलस्वरूप भाषा अपनेको अपंग अनुभव करने लगी है। जो भाषा जितनी ही पुरानी है और परम्परागत प्रयोगोंके कारण जिसकी शब्द-शक्ति जितनी ही घिस गयी है, उसे उतना ही अधिक अपनी शक्ति-क्षीणताका अनुभव होता है, और वह उसे दूर करनेके लिए अपनी शैलीका संस्कार करती दिखायी पड़ती है। अंग्रेजीके सम्बन्धमें कवि एवं नाटककार लुई मैकनीस का विचार है कि 'अंग्रेजी, जिसका साहित्य इतना पुराना है, और जिसकी सुसमार्जित शैली प्रयोगोंसे इतनी जर्जर हो गयी है, जो आज भाषान्तर

लेखनके लिए उपचार-करना—सीधे-सादे वक्तव्यों और घिसे-पिटे चित्रोंको टेढ़े ढगसे कहनेकी शैली—पर निर्भर करना पड रहा है।' उनके अनुसार मुद्रित पृष्ठपर ऐसा करनेके लिए सतत कौशल-प्रदर्शनकी अपेक्षा है, पर उच्चरित शब्दोंके द्वारा जिसे सहज ही किया जा सकता है।

इसी प्रसगमें 'अज्ञेय' की ये पंक्तियाँ भी उद्धृत की जा सकती हैं—'भाषाको अपर्याप्त पाकर विराम-संकेतोंसे, अंकों और सीधी-तिरछी लकीरों-से, छोटे-बड़े टाइपोंसे, सीधे या उलटे अक्षरोंसे, लोगों और स्थानोंके नामों-से, अधूरे वाक्योंसे—सभी प्रकारके इतर साधनोंसे कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदनाकी सृष्टिको पाठकों तक अक्षुण्ण पहुँचा सके।' इसके उदाहरण-स्वरूप देसी-विदेशी अत्याधुनिक कविताके अनेकानेक अंश उद्धृत किये जा सकते हैं। हिन्दीकी एक कविताका अंश प्रस्तुत है—

मैं—
—ने
[अर्थात् हम–ने]
इन्हें अपने चरित्रके गर्भमें धारण किया,
जाने, या बहुत कुछ अंशोंमें अनजाने ही
इनका संधारण
मनसा,
वाचा,
कर्मणा
सम्भावित हुआ।
और,
फिर उसी तरह,
शत,
सहस्र,
अभिव्यक्तियों,

इंगितों,
आवरणों,
कर्मों,
के माध्यम
इनके पूर्णको
खण्डशः प्रवतरित किया।
[अरस्तूके दर्शनका प्रयोग
मेरा—[+रा]
अर्थात्
हमारा—[+रा]
लक्ष्य नहीं था]
['क्वारकी साँझ' संग्रहसे]

गद्यके भी ऐसे अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें लेखन-शैली-की नवीनताके द्वारा चमत्कार उत्पन्न करनेका प्रयत्न किया जाता है। 'अपरम्परा' [त्रैमासिक साहित्य संकलन] मे प्रकाशित 'तीसरी कसम अर्थात् मारे गये गुलफाम !' शीर्षक कहानीसे कुछ पंक्तियाँ उद्धृत हैं—

'दारोगा साहबकी डेढ हाथ लम्बी चोरबत्तीकी रोशनी कितनी तेज होती है, हिरामन जानता है। एक घण्टातक आदमी अन्धा हो जाता है, एक छटक भी पड़ जाय आँखोंपर, तो ! रोशनीके साथ तड़कती हुई आवाज—ऐ-य ! गाड़ी रोको !! साले, गोली मार देंगे !—

बीसों गाड़ी एक साथ कचकचाकर रुक गयी। हिरामनने पहले ही कहा था—यह बीस विपावेगा। दारोगा साहब उसकी गाड़ीमें दुबके हुए मुनीमजीपर रोशनी डालकर पिशाची हँसी हँसे—हा-हा-हा। मुँड़ीमजी ई-ई-ई। ही-ही-ही। 'ऐ-य, साला गाड़ीवान, मुँह क्या देखता है हैं रे-ए-ए ? कम्बल हटाओ इस बोरेके मुँहपरसे ! हाथकी छोटी लाटीसे मुनीमजीने पेटमें खोंचा मारते हुए कहा था—इस बोरेको ! स-स्साला !!'

इन उदाहरणोंसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखक किस प्रकार अपनी शैलीकी शक्तिसे लिखित भाषाकी असमता मिटानेके लिए प्रयत्नशील है। यह मुद्रण-यन्त्र और लेखन-कलाका प्रभाव है। इन्होंने लेखकों और पाठकोंको दूसरे प्रकारसे भी प्रभावित किया है। यहाँ हम कुछ और प्रभावोंपर विचार करेंगे।

शब्दोंमें चित्र-निर्माणकी शक्ति होती है। जब कोई शब्द उच्चरित किया जाता है, तब श्रोताके मनमें उच्चरित ध्वनियोंकी प्रतिक्रिया होती है, और मानस-चित्र उभर आते हैं। शब्दोंके लिखित रूपमें यह शक्ति नहीं होती। फलतः मुद्रण-यन्त्रने लेखकों और पाठकोंका ध्यान भाषित शब्दोंकी प्रतिक्रियासे हटा दिया है। सोमनाथ चिबके शब्दोंमें, 'लिखित शब्दोंने लेखकोंमें भाषाको वाक्य और अनुच्छेदके रूपमें सोचनेकी आदतको जन्म दिया। इसने उच्चरित शब्दोंकी प्रतिक्रियाओं, चित्रों और अर्थोंपरसे लेखक और पाठकका ध्यान हटा दिया।' दूसरी बात यह भी ध्यान देनेकी है कि शब्दमें केवल अर्थ ही नहीं होता, ध्वनि भी होती है। ध्वनियोंके श्रवणसे भी आनन्द होता है। कवितामें तो इस नाद-सौन्दर्यका बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन उसके लिखित रूपके मौन पाठ द्वारा इस आनन्दकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसका प्रभाव श्रोताओंकी काव्यानन्द-ग्रहणकी शक्तिपर पड़ता है। जैसा कि प्रो० बुचरने कहा है, 'मुद्रण-कलाने हमारी साहित्यिक दृष्टि मन्द कर दी है।' लूई मैक्नीसने भी सत्य ही कहा है कि 'हम ऐसे युगमें हैं, जिसमें हमारे कुछ कवि भी इस प्रकार लिखते हैं, जैसे वे बहरे और गूँगे हैं।' नाद-सौन्दर्यकी यह बात केवल काव्यके लिए ही सत्य नहीं है, गद्यकी लयात्मकतामें भी सौन्दर्य होता है, जिसे सुनकर आनन्द प्राप्त किया जा सकता है।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि मुद्रण-यन्त्र द्वारा अपहृत शब्दोंकी मौलिक शक्तियोंको रेडियो फिरसे वापस दे सकता है। रेडियोने भाषाको स्वर-विकार, स्वर, बल और प्रवाह, इन सभी अंगोंसे पुनः सम्पन्न कर दिया

है। इसने हमें शक्ति दी है कि हम भाषित शब्दोंसे श्रोताओंके मनमें अपेक्षित मानस-चित्रोंका निर्माण कर सकें, अपेक्षित प्रतिक्रियाएँ जगा सकें, शब्दोंके सूखे हुए फूलमें फिर रंग और गन्ध ला सकें, अर्द्धजीवित शब्दोंको पूर्णतः प्राणवन्त बना सकें।

भाषित शब्दोंके पक्षमें कहे गये तथ्योंसे यह न समझा जाय कि लिखित और मुद्रित शब्दोंका कोई मूल्य ही नहीं है। इन दोनोंने हमारी सभ्यताके विकासमें बहुत बड़ा काम किया है : लेखन-कलाके आविष्कारने मानव-मानवके बीचकी दूरी मिटायी थी, एक स्थानका व्यक्ति अपनेसे कोसों दूर रहनेवाले व्यक्तियोंसे विचार-विमर्श करनेमें समर्थ हो सका। इस प्रकार मुद्रण-यन्त्रके आविष्कारने देश-कालकी दूरी मिटाकर ज्ञानका प्रसार किया, कालिदास और शेक्सपियर-जैसे साहित्यकारोंकी कृतियाँ सबके लिए सुलभ हो गयी। लेकिन इन सुविधाओंके बावजूद लेखन और मुद्रणने भाषित शब्दोंकी शक्ति छीनी, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। रेडियोकी विशेषता यह है कि इसने लेखन और मुद्रण-कलाओंकी तरह स्थानोंकी दूरी भी मिटायी है, साथ ही शब्दोंकी खोयी हुई शक्ति भी वापस दी है। अभि-व्यक्तिका इतना विचित्र माध्यम मनुष्यको पहली बार मिला है, जिसमें प्रत्यक्ष भाषणकी सामूहिकता भी है, और स्थानोंकी दूरी मिटानेकी लेखन-कला-जैसी क्षमता भी है। आजका विचारक और साहित्यकार एक स्थान-पर बैठा हुआ दूर-दूर रहनेवाले असंख्य लोगोंसे एक ही साथ बातें कर सकता है। सामूहिक प्रेषणीयताका इतना सशक्त साधन दूसरा नहीं है, जिसके माध्यमसे एक वार्त्ताकार दूरस्थ व्यक्तियोंसे प्रत्यक्ष रूपसे अपनी बातें कह सके। वार्त्ताकारकी यह क्षमता भाषित शब्दोंकी शक्तिके ज्ञानपर निर्भर है। इस शक्तिका किस प्रकार उपयोग किया जाय, यह हमारे अगले अध्यायोंका विवेच्य विषय होगा।

○

रेडियो-वार्ता और श्रोताकी मानसिक दृष्टि

रेडियो सुनता हूं !
ईथरके बागसे
स्वर और शब्दके
रंग-बिरंगे फूल चुनता हूं ।

सचमुच रेडियो सुनते समय श्रोता जब स्वरों और शब्दोंके रंग-बिरंगे फूल चुननेका अनुभव करने लगता है, तभी रेडियो-कार्यक्रमोंकी सार्थकता सिद्ध होती है, अन्यथा वे शून्यमें बिखरा दी गयी निरर्थक ध्वनियोंकी तरह है। शब्दोंके फूल श्रोताकी मानसिक आंखों द्वारा ही देखे जा सकते हैं, और उन्हींके द्वारा चुने भी जा सकते हैं। फलतः रेडियो-कार्यक्रमोंके प्रस्तुत-कर्त्ताका ध्यान श्रोताकी मानसिक दृष्टिपर अवश्य ही रहना चाहिए। रेडियो-लेखकोंको, चाहे वह नाटककार हो, कहानीकार हो, वार्ताकार हो, सदा यह स्मरण रखना है कि वह अंधोंके लिए लिख रहा है, उसे प्रत्येक क्षण अपने शब्दोंकी चित्र-निर्माण-शक्तिका उपयोग करना है। रेडियो-वार्ताकारमें तो यह विशेषता निश्चित रूपसे होनी चाहिए। रेडियो-वार्ता-लेखनके सम्बन्धमें प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रोफेसर सीरिल बर्ट कहते हैं—'अपनी वार्ता लिखते समय प्रसारण-कर्त्ताको अन्धे श्रोताओंकी मानसिक दृष्टिको ध्यानमें रखना चाहिए, जो कुछ भी भाव मात्र हो, उसे छोड़ देना चाहिए, और प्रत्येक वाक्यको एक चित्र निर्मित करना चाहिए।'

बी० बी० सी० के पहले चीफ इन्जीनियर पी० पी० एकरस्ले अपनी पुस्तक 'दि पावर बिहाइण्ड दि माइक्रोफ़ोन' में बड़े साफ़ शब्दोंमें कहते हैं कि 'मनको उबानेवाले ऐसे गद्य-पाठ बहुत कम होने चाहिए [रेडियोपर] जो परपर साधारण लिखे-जैसे मालूम हों, और ऐसे कुशल वार्ताकारोंको अधिक संख्यामें आना चाहिए, जो घटनाओं और विचारोंके स्पष्ट शब्दचित्र निर्मित करना जानते हों।' रेडियोके प्रसिद्ध प्रसारणकर्त्ता लियोनेल गैमलिन रेडियोपर प्रभावशाली ध्वनि-चित्र [Sound Picture] चाहते हैं, और बतलाते हैं कि 'रेडियो द्वारा प्रस्तुत ध्वनि-चित्र चित्रशालाके चित्रोंकी तरह गतिहीन नहीं होते, बल्कि बड़े गतिशील होते हैं, श्रोताके सामने एक क्षण-के लिए आते हैं, और फिर विदा हो जाते हैं, श्रोता उन्हें दुबारा नहीं देख सकता, फलतः उन्हें बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए।' रेडियो-वार्ताके लिए चित्रात्मकता अनिवार्य है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

प्रश्न यह है कि शब्दों द्वारा किस प्रकार चित्र-निर्माण किया जाय? चीनकी एक कहावतमें कहा गया है कि एक चित्र दस हजार शब्दोंके बराबर होता है। यह उक्ति बिलकुल सत्य है, लेकिन दस हजार नहीं, बल्कि कुछ इने-गिने शब्दोंसे ही चित्र कैसे बनें, यह एक कठिन कार्य है। इसके लिए कल्पना-शक्तिकी अपेक्षा है। बिना कल्पनाका सहारा लिये शब्दोंकी शक्तिका अपेक्षित उपयोग नहीं हो सकता। लियोनेल गैमलिन तो कहते हैं कि बिना कलाकार हुए कोई भी इस कल्पनाका उपयोग नहीं कर सकता। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि रेडियो-वार्ताकारको भी कलाकार बनना पड़ेगा; बनना क्या पड़ेगा, कलाकार तो वह है ही। जैसे ही वह कवियों, कहानीकारों और नाटककारोंकी तरह अपनी वार्ता लिखनेके लिए क़लम हाथमें उठाता है, और उसके बाद अभिनेताओंकी तरह माइक्रोफोन-के सामने स्वयं अपना अभिनय करनेके लिए [दूसरोंका नहीं] आता है, कलाकारके पदपर प्रतिष्ठित हो जाता है। यह सही है कि वह वैज्ञानिक है, वकील है, राजनीतिक या साहित्यिक विचारक है, अर्थशास्त्री

है अथवा किसी दूसरे विषयका विशेषज्ञ है, पर जहाँ वार्त्ता-लेखन और प्रसारणका प्रश्न आता है, वह कलाकार है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उसके सामने समस्या तो यह है कि वह अपने कलाकारके गौरव-की रक्षा किस प्रकार करे, किस प्रकार कल्पना और शब्दोंकी शक्तिसे काम ले, और किस प्रकार अपने श्रोताओंकी मानसिक दृष्टिके सामने यथोचित सामग्री उपस्थित कर सके ?

शब्दोंकी शक्ति अपरिमित है, यह पहले कहा जा चुका है। शब्दोंसे चित्र भी निर्मित हो सकता है, रूप-रंगकी झाँकी भी प्रस्तुत की जा सकती है, गतिकी व्यंजना भी हो सकती है। इसके पहले कि हम प्रसारित वार्त्ताओंसे इनके कुछ उदाहरण दें, यह उचित लगता है कि प्राचीन काव्यके उदाहरणों से शब्दोंकी चित्रात्मक शक्तिका परिचय दिया जाय। प्राचीन काव्यमें यह दृश्य तत्त्व बहुत अधिक था, मुद्रण-यन्त्रके आविष्कार तथा बौद्धिकताके विकासके साथ-साथ इसका ह्रास हो गया है। चित्रमयताके कुछ उदाहरण कालिदासकी कृतियोंसे, उनके कुछ अंशोंके अनुवादके द्वारा दिये जा रहे हैं।

'मालविकाग्निमित्र' की मालविकाका यह रूप-चित्र है—'बड़ी-बड़ी आँखें, कान्तिमान् शरत्के चन्द्रमा-जैसा मुख, कन्धोंपर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उन्नत स्तन, मुट्ठी भरकी कटि, पृथुल जाँघें और थोड़ी-थोड़ी झुकी हुई पैरोंकी उँगलियाँ।'

'कुमारसम्भव' की पार्वतीके इस चित्रमें रंगोंको स्पष्ट देखा जा सकता है—'कमलके समान जिनकी आँखें हैं, सिरसके फूलसे भी कोमल जिनकी भुजाएँ हैं, जिनके लाल-लाल अधरोंपर मुसकानकी उज्ज्वलता ऐसी लगती है, जैसे लाल कोपलमें कोई उजला फूल रखा हो या स्वच्छ मूँगेके बीचमें मोती जड़ा हुआ हो।'

महर्षि कण्वके आश्रमका यह चित्र देखिए—'कहीं वृक्षोंके नीचे, तोतोंके कोटरोंसे गिरे हुए तिन्नीके दाने बिखरे पड़े हैं, कहीं इधर-उधर

पड़े हुए चिकने पत्थर बतला रहे हैं कि इनपर हिंगोटके फल कूटे गये हैं, कहीं निर्भीक खड़े हरिण इस विश्वासके साथ रथका शब्द सुन रहे हैं कि आश्रममें इन्हें कोई छेड़ेगा नहीं, कहीं नदी-तालाबोंपर आने-जानेकी राहोंमें मुनियोंके वल्कलोंसे टपके हुए जलकी रेखाएँ बनी हुई हैं।'

गतिके शब्द-चित्रके लिए वेगसे दौड़ते हुए रथका यह चित्र दर्शनीय है—'सचमुच इन अश्वोंने तो सूर्य और चन्द्रके अश्वोंको भी दौड़में पछाड़ दिया है, क्योंकि जो वस्तु दूरसे पतली दिखायी देती थी, वह जल्दी ही मोटी हो जाती है, जो बीचसे कटी जान पड़ती थी, वह झट ऐसी जान पड़ने लगती है मानो उसे किसीने जोड़ दिया हो, और जो स्वभावतः टेढ़ी वस्तुएँ है, वे आँखको सीधी-सी दिखायी देने लगती हैं। रथ इतने वेगसे दौड़ रहा है कि कोई वस्तु न दूर रह पाती हैं, न समीप ही'—[आकाशमें तीव्र वेगसे दौड़ते रथका चित्र] 'यह रथ इतने वेगसे दौड़ रहा है कि इसकी रगड़से घने बादल पिस-पिसकर धूल बन गये है। इसके पहिये भी इतने वेगसे घूम रहे है कि लगता हैं, मानो पहियोंके अरोंके बीचमें और भी बहुत-से अरे बनते चले जा रहे है। अश्वोंके सिरपर चौरियाँ इस तरह खड़ी हो गयी है कि लगता है, ये चित्रमें खिंची हुई हों, और, वेगसे चलनेके कारण जो पवन उठता है, उसकी झोंकसे झण्डीका कपड़ा अपने बाहरी छोरके और ध्वजाके डण्डेके बीचमें सीधा फैल गया है, तनिक भी हिलता-डुलता नही।'

इन प्रकारके शब्द-चित्रोंका व्यवहार रेडियो-वार्ताको आकर्षक और प्रभावोत्पादक बना सकता है, इसमें सन्देह नही। प्राकृतिक दृश्यों, स्थानों, देशों, व्यक्तियों, यात्रा-विवरणों आदिसे सम्बन्धित वार्ताओंमें चित्रोंका व्यवहार किया जा सकता है। उदाहरणके लिए, 'यह राजस्थान है' शीर्षक वार्ताका यह अंश उद्धृत है

'यह राजस्थान है, मूरमा देश। नाम लेते ही इतिहास आँखोंपर चढ़ जाता है [illegible] सहाराका विस्तार, जितनी ही बीहड़ भूमि,

ड आदमी। आदमी कि फौलाद, जिसमें पानी, ज्मा

× × ×

न डील-डौल, नुकीली नाक, ऊँचा माथा, जिसमें विरली बन्दा-, सटी मिरजई, कभी पगड़ी। कमरसे लटकती तलवार, मुट्ठीमें र। दोनों ओर सँवारी दाढ़ी, चढ़ी मूँछें, ताँबिया रंग।—ऐसा क देखें तो चेहरा दुम दबा ले, कि चले तो गजराज राह छोड़ दे। री काया, सुथरा रंग, साँचेमें ढले अंग। छातीपर कसी चोली, हेला घाँघरा। माथेपर प्रकाशपुंज बोरला, सिरपर आँचल, झुको ल भीग जाये, छेड़ो तो सिंहनी गरज उठे। उमा-सी पावन, बेस-जपूतकी आनकी रहस्य—राजपूतनी।'

[आकाशवाणी प्रसारिका, अप्रैल-जून १६५६]

चित्र अवश्य ही आकर्षक कहे जायेंगे। पर इनके विपरीत, वार्ताओं-ओंके लिए अवकाश रहनेपर भी साधारणत ये वार्ताकारों द्वारा नहीं किये जाते। उदाहरणार्थ 'बदरीनाथ' शीर्षक वार्तामें वार्ताकार है—

'यद्यपि वर्तमान मन्दिर तीर्थकी प्रसिद्धिके अनुरूप नहीं है और न नके अन्य मन्दिरोंकी भाँति इसमें भारतीय स्थापत्य और मूर्तिकलाका तविक रूप प्रकट हुआ है, तो भी इसका प्रवेश द्वार बहुत भव्य है।'

[रेडियो-संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १६५३]

इस 'भव्य' शब्दके कह देने मात्रसे श्रोताके मनमें प्रवेश-द्वारका कैसा बन आयेगा ? ऐसा ही एक दूसरा उदाहरण लें। यह अंश 'सीलोनका देश : नाहा' वार्ताका है—

'टूटेंकोका अजायबघर हमारे ... ायबघरोंमें एक ... था, और उसके कुछ समूह तो ... के अजायब- ... ामें न देखे थे। ... . छोटी

मानी जाती है। इस दृष्टिसे रेडियो विचारों और भावोंके प्रेषणका सबसे उचित माध्यम है। इसीलिए टेलिविजनकी तुलनामें रेडियोको अनुभवी प्रसारणकर्त्ताओं द्वारा अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। टेलिविजनके पटपर साहित्यमें वर्णित दृश्योंके हूबहू चित्रणका प्रयत्न रहता है। 'दि टाइम्स' पत्रके रेडियो-समीक्षकने एक बार लिखा था—'सिनेमा चित्रपटोंकी यथा-तथ्यताने शेक्सपियरके काव्यकी चित्रमयताको हास्यास्पद बना दिया। घण्टोंका उल्लेख है, इसलिए हमलोगोंको घण्टे बजानेवालोंको देखना ही चाहिए, रोशनीका उल्लेख है, इसलिए रोशनीवालोंको सजना ही चाहिए।—यह कलाका निषेध है।' कवि लुई मैकनीस कहते हैं—'कवि जब कोयलके विषयमें कहता है कि वही एक मात्र ऐसा पक्षी है, जिसके स्वरमें इतनी सघनता है कि उसकी भी प्रतिच्छाया होती है, तब हम किसी कोयलको नहीं देखना चाहते। मैं समझता हूँ, हमलोग कुछ भी नहीं देखना चाहते, काव्यात्मक चित्रको अपना रंगमंच स्वयं अपने पास होना चाहिए।' इन सभी बातोंसे यह निष्कर्ष सरलतासे निकाला जा सकता है कि शब्दोंके लिए चित्रोंकी व्यंजना कर देना ही पर्याप्त है।

श्रोताओंकी मानसिक दृष्टिकी तृप्तिके लिए चित्रात्मकताके अतिरिक्त भी अनेक साधन हैं। उनमें एक यह है कि अपने विचारको उदाहरणोंके द्वारा व्यक्त किया जाय। गम्भीरसे-गम्भीर विचार भी उदाहरणोंके द्वारा आकर्षक एवं सरस रूपमें उपस्थित किया जा सकता है। अगर लगातार कुछ देर तक विचार-ही-विचार उपस्थित किये जायँ, तो श्रोताओंको समझनेमें भी कठिनाई होगी, और उनका मन भी ऊब जायेगा। रेडियोके अदृश्य श्रोताओंके लिए तो यह बात विशेष रूपसे सही है। इसीलिए जान एम० कार्लाइल रेडियो-लेखकोंसे कहते हैं कि 'उदाहरणोंके व्यवहारमें सावधान रहिए।' जन-सामान्यसे सम्पर्क रखनेवाले विचारक एवं वक्ता उदाहरणोंके महत्त्वको अच्छी तरह जानते हैं। आचार्य विनोबाके 'गीता-प्रवचन'में देखा जा सकता है कि दृष्टान्तों द्वारा किस प्रकार गीताके गम्भीर दर्शनको भी

एवेन्यूपर बना हुआ है। इस एक अजायबघरमें वास्तवमें चार अजायबघर हैं। लन्दनको छोड़ यह अजायबघर ब्रिटिश राष्ट्रमण्डलमें सबसे बड़ा है और अपने संग्रहालयके लिए अत्यन्त विख्यात है। अजायबघरके चार भाग इस प्रकार हैं:—पुरातत्त्व, खनिज शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र और प्राणिशास्त्र। इस अजायबघरसे जीवनकी वृहत्ताका आभास मिलता है।'

[प्रसारिका, जुलाई-दिसम्बर १९५५]

उद्धृत अंशसे श्रोताके मनमें अजायबघरके सम्बन्धमें क्या धारणा बनेगी? इससे क्या वह समझ पाता है कि अजायबघर कितना बड़ा है, उसमें कौन-कौन-सी ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तुएँ हैं, जो और कहीं नहीं हैं? वार्त्ताकारने सभी बड़ी धुँधली बातें कही हैं, उसने शब्दोंकी चित्रात्मक शक्तिका उपयोग नहीं किया है। सीरिल बर्टका जो विचार पहले दिया जा चुका है कि जो भाव मात्र हो, उसे छोड़ देना चाहिए और प्रत्येक वाक्यको एक चित्र निर्मित करना चाहिए, वह ऐसे ही प्रसंगोंके लिए। वार्त्ताओंमें कुछ भी धुँधला नहीं होना चाहिए। 'प्रोडक्शन एण्ड डाइरेक्शन ऑफ रेडियो प्रोग्राम्स' के लेखक जॉन एस० कार्लाइल कहते हैं—'तथ्योंको निश्चित और प्रत्यक्ष रूपमें उपस्थित कीजिए।' प्रसिद्ध लेखक एवं वक्ता डेल कार्नेगी भी यही बात कहते हैं कि दृष्टिके लिए प्रस्तुत सामग्रीको बिलकुल स्पष्ट और निश्चित रखिए।

शब्दों द्वारा निर्मित चित्रोंके सम्बन्धमें यह अवश्य याद रखना है कि शब्द किसी भी वस्तु या दृश्यका हूबहू चित्र नहीं अंकित कर सकते, वे केवल चित्रोंकी व्यंजना कर सकते हैं। कुछ शब्दों या कुछ वाक्यों द्वारा ऐसे संकेत भर दिये जा सकते हैं, जिनसे श्रोता अपने मानसमें स्वयं ही चित्र निर्मित कर ले। शब्द-संकेतोंकी विशेषता केवल इसी बातमें है कि वे श्रोताओंकी कल्पनाशक्तिको उद्बुद्ध कर दें, जिससे वह मानस-चित्रोंका निर्माण कर सके। रेडियोको संकेतोंकी कला कहा जाता है। इसकी विशेषता इसकी व्यंजनामें ही है, अभिधामें नहीं। साहित्यकी सबसे बड़ी शक्ति व्यंजना ही

सहज बोधगम्य बना दिया गया है। उसीसे एक छोटा-सा अंश उद्धृत है।

'सहज कर्मको ही अकर्म कहते हैं।—कर्मकी सहजताको समझनेके लिए हम अपने परिचयका एक उदाहरण लें। छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है। उस समय उसे कितना कष्ट होता है! किन्तु हमें उसकी इस लीलासे आनन्द होता है। हम कहते हैं, देखो, लल्ला चलने लगा। परन्तु पीछे यही चलना सहज हो जाता है। वह चलता भी रहता है और बात-चीत भी करता रहता है। चलनेकी ओर ध्यान भी नहीं रहता। यही बात खानेके सम्बन्धमें है। हम छोटे बच्चेका अन्नप्राशन कराते हैं, मानो खाना कोई बड़ा काम हो। परन्तु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है। मनुष्य जब तैरना सीखता है, तो कितना कष्ट होता है। पहले दम भर आता है, पर बादमें तो उलटे जब दूसरी मेहनतसे थक जाता है, तो कहता है कि चलो, ज़रा तैर आयें, तो थकान निकल जाय। अब वह तैरना कष्टकर नहीं मालूम होता। शरीर यों ही सहज भावसे पानीपर तैरता है। श्रमित होना मनका धर्म है। मन जब कर्मोंमें व्यस्त रहता है, तो श्रम मालूम होता है; परन्तु कर्म जब सहज होने लगते हैं, तो फिर उनका बोझ नहीं मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है। कर्म आनन्दमय हो जाता है।'

एक उदाहरण एक प्रसारित वार्तासे देखिए कि उदाहरणोंके व्यवहारसे वार्ता किस प्रकार रोचक हो जाती है। वार्ताका नाम है 'ऐन मौकेपर':

'बुद्धि वह, चातुरी वह, प्रतिभा वह, जो ऐन मौकेपर राह बताये, पन्थ सुझाये, काम चलाये। यों तो बुद्धि उस खास जानवरमें भी होती है, जो पीठपर भारी बोझ लिये, आँखें झुकाये, कान लटकाये, लकीर पकड़े, धोबी घाटतक जैसे-तैसे पहुँच ही जाता है।

मैं मानता हूँ, वैसी बुद्धि, वैसी चातुरी, वैसी प्रतिभा सबको नहीं मिलती। यह भी मानता हूँ, एक लम्बी साधनाके बाद ही बुद्धिमें वैसा चमत्कार, चातुरीमें वैसा पैनापन और प्रतिभामें वैसे पंख लग पाते

योजनाओंमें लग जाते हैं। प्रायः होता है, योजनाएँ बनती ही रह जाती हैं, मनुष्य गुनगुनाता ही रह जाता है।'

[रेडियो संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५१]

दृष्टान्तोंके अतिरिक्त चित्र-निर्माणका एक उपाय यह भी है कि अपने वक्तव्यको सामान्यके बदले विशेषके द्वारा व्यक्त किया जाय। वृक्ष सामान्य है, पर आम या नीम कहना विशेष है। सामान्यमें चित्र-निर्माणकी शक्ति नहीं होती, विशेषमें होती है। हर्बर्ट स्पेन्सर कहते हैं—'हम लोग सामान्यके माध्यमसे नहीं सोचते, बल्कि विशेषके माध्यमसे सोचते हैं।' बात सही है। इस तथ्यकी सरलतासे वार्ताकार सहायता ले सकता है। सामान्यके माध्यमका एक उदाहरण लें :

'भारतवर्षमें आध्यात्मिक प्रश्नोंपर अनादि कालसे विचार होता रहा है। प्रत्येक युग तथा प्रत्येक दिशामें अनेक वादों तथा अनेक दर्शनोंकी उत्पत्ति हुई है।'

[प्रसारिका, जुलाई-दिसम्बर १९५५]

इसे विशेषोंके माध्यमसे भी कहा जा सकता है—'शरीरको तो हम अपनी आँखोंसे देखते हैं, आत्मा कहीं दिखायी नहीं पड़ती। कहीं आत्मा है भी क्या? है भी, तो क्या है? कहाँसे आती है? मृत्युके बाद, शरीरका नाश होनेपर कहाँ जाती है? क्या वह धरतीपर लौटकर भी आती है? परमात्मासे उसका क्या सम्बन्ध है? मायासे उसका कैसा नाता है? यह संसार क्या है, और आत्मा इससे किस तरह जुड़ती-बिछुड़ती है, ऐसे सारे आध्यात्मिक प्रश्नोंपर हमारे भारतवर्षमें प्राचीन कालसे ही विचार होता रहा है। विचारकोंने अपने-अपने ढंगसे सोचा है, अपने-अपने वाद चलाये हैं—अद्वैतवाद है, विशिष्टाद्वैतवाद है, विज्ञानवाद है, क्षणिकतावाद है, ऐसे ही अनेक वाद हैं।'

सामान्य रूपसे कहा जा सकता है कि 'गाँवोंको स्वावलम्बी होना चाहिए, स्वावलम्बनपर ही उनका सुख निर्भर है।' इसीको विनोबा भावे अपने शब्दोंके द्वारा इस प्रकार कहते हैं

'गाँववालोंको अपने पैरोंपर खड़ा होना चाहिए। यही सच्चा स्वराज्य है। गाँवमें ग्रामशक्ति है। उसीसे वहाँ पैसेका निर्माण होता है। गाँवकी ज़रूरतकी सारी चीज़ें गाँवमें पैदा हो सकती हैं। गाँवमें कपड़ा बन सकता है, मकान बन सकते हैं। जो थोड़ी-सी मदद बाहरसे चाहिए, वह भी मिल सकती है। इस तरह बहुत सारा काम गाँवकी अपनी शक्तिसे होना चाहिए। हम खाते हैं, तो खुद अपने हाथोंसे खाते हैं, दूसरोंके हाथसे नहीं खा सकते। खाया हुआ अपनी ही पचनेन्द्रियोंसे पचाते हैं, हमारा भोजन दूसरा कोई नहीं पचा सकता। गाँवकी खुदकी ताकत जब बढ़ेगी, तभी गाँवमें स्वराज्य आयेगा—जो मरेगा, वही स्वर्ग देखेगा। स्वर्ग देखना चाहते हो, तो मरनेकी तैयारी करो। गाँव सुखी हो, गाँव आज़ाद हो—यह चाहते हो, तो अपनी ताकतसे काम करो।'

['त्रिवेणी प्रवचन-संग्रहसे]

इस प्रकारका एक उदाहरण और लें। 'पंचवर्षीय योजना और नारी' शीर्षक वार्त्तामें कहा गया है :

'पंचवर्षीय योजनाके दो मुख्य उद्देश्य हैं—

[अ] लोगोंके लिए उच्च जीवन-स्तर और

[ब] सामाजिक न्याय'

[रेडियो-संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

सामान्य श्रोता इससे क्या समझेगा ? उसके मनमें जीवन-स्तर और सामाजिक न्यायकी कैसी धारणाएँ बनेंगी ? श्रोताके मनके सामने कोई चित्र उपस्थित हो सके, इसके लिए विशेषोंका उपयोग करना होगा—'पंचवर्षीय योजनाका पहला उद्देश्य लोगोंको सुखी बनाना है, देशमें इतना धन पैदा करना है कि सबको अच्छा खाना मिले, अच्छा कपड़ा मिले, रहनेको अच्छा

हवादार मकान मिले। समूचे देशका हिसाब लगाकर देखा गया है कि देशका हर आदमी हर रोज़ सिर्फ छः नये पैसेका दूध-घी खाता है। यह औसत हिसाब है, इसमें उन लोगोका भी हिसाब है, जो रोज रुपये-आठ आनेके दूध-घी खाते है। इसका मतलब यह कि देशमें ऐसे बहुत लोग हैं, जिन्हें दूध-घीके दर्शन भी नही होते। पंचवर्षीय योजनाके द्वारा हमें ऐसा उपाय करना है कि सबको अच्छा ,खाना भर पेट मिल सके। मतलब यह कि हमें लोगोंको रहन-सहनका स्तर ऊँचा उठाना है।' ['सामाजिक न्याय'-को भी विशेषोंके माध्यमसे प्रस्तुत करना होगा।]

साहित्यिक वार्त्ताओंमें भी विशेषोंकी शक्तिका उपयोग किया जा सकता है। यह कहनेकी अपेक्षा कि 'कल्पना ही प्रतीकोंका निर्माण करती हैं', यह कहना कि 'यह कल्पना ही है, जो हंसको आत्मा, घूंघटको माया और शरीरको चादरके रूपमें उपस्थित करती है,' अधिक चित्रमय, फलतः आकर्षक होगा।

चित्रात्मकताका एक साधन तुलना भी है। वस्तुओंकी तुलनाके द्वारा भी चित्रात्मकता आ सकती है। इसके लिए अपनी कथ्य वस्तुकी उपमा हम दूसरी वस्तुसे देते है। काव्योंमे तो इसका व्यवहार बहुत अधिक होता है। इससे काव्यका सौन्दर्य भी बढता है। उदाहरणार्थ, राक्षस द्वारा हरी जानेपर उर्वशी मूर्च्छित हो गयी थी, उसका सौन्दर्य मलिन पड़ गया था, लेकिन मुक्तिके बाद उसका सौन्दर्य फिर निखर आया। महाकवि कालिदास कहते हैं—'लगा, जैसे वह चन्द्रमाके निकल आनेपर अँधेरेसे छूटी हुई रात हो, या रातके समय बिना धुएँवाली अग्निकी लपट हो, या गंगाकी वह धारा हो, जो कगारके गिरनेसे गँदली होकर फिर स्वच्छ हो गयी हो।' इसी प्रकार कालिदास काले बादलोंमें चमकती हुई बिजलीको कसौटीपर खिची हुई स्वर्णरेखाके रूपमें चित्रित करते हैं। कबीरदास अपनी विरहिणी आत्माकी विकलता व्यंजित करनेके लिए कहते हैं—'तन-मन मोर रहँट होने।' इस तरहके अनगिनत उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं।

[illegible] इस प्रकारकी तुलनाओंका व्यवहार अपने भाषणोंमें सदा ही किया करते हैं। कुछ उदाहरण आचार्य भावेके ही लीजिए—

'१—सारी दुनियामें विचारका प्रवाह इधरसे-उधर और उधरसे-इधर चलता रहता है। मानसूनकी तरह क्रान्तिकारक विचार भी बाहरसे यहाँ आयेंगे और यहाँसे बाहर जायेंगे। हवाकी तरह विचारको भी किसी पास-पोर्टकी जरूरत नहीं होती। विचारको कोई भी दीवाल नहीं रोक सकती।

२—मुक्तिका अर्थ यह है कि मानव अपने निजके जीवनको शून्य बनाये और विश्वके—समाजके—जीवनमें विलीन हो जाय। जिस तरह नदी समुद्रमें लीन हो जाती है, उसी तरह मानव अपनी सारी शक्ति परमेश्वरमें लीन करे। हजार मस्तकों, हजार हाथों और हजार नेत्रोंसे हम विश्वरूप भगवान्‌की सेवामें लग जायँ, जो हमारे सामने खड़ा है।

३—हिन्दुस्तानमें जो तीन-चार बड़े सम्राट् हो गये हैं, उनमें हर्षका नाम आता है। हर्षके कपड़ेका वर्णन आया है। वह मेरे समान एक नीचे और एक ऊपर धोती पहनता था, किसानकी तरह सादगीसे रहता था। राजाकी यही खूबी थी कि सम्पत्तिका सर्वस्व दान देते जाना। फिरसे कमाना और फिरसे दान देना—यह क्रिया चलती थी। सूर्यनारायण समुद्रसे पानी खींच ले जाते हैं और जितना ले जाते हैं, उतना बादमें लौटा देते हैं। खारा पानी ले जाते हैं और मीठा पानी दे जाते हैं। इसी प्रकार राजाको होना चाहिए।'

['त्रिवेणी' प्रवचन-संग्रहसे]

इन सभी उदाहरणोंमें यह देखा जा सकता है कि किस प्रकार गम्भीर बातें भी स्पष्ट होकर आँखोंके सामने आ जाती हैं। हाँ, तुलना करते समय *जो सबसे बड़ी विशेषता होनी चाहिए, वह इन सभी उदाहरणोंमें है :* अपरिचित वस्तु या विचारकी स्पष्ट अभिव्यक्तिके लिए उनकी उपमा परिचित वस्तुओंसे दी जानी चाहिए। अगर हम कहते हैं कि विचार हवाकी तरह कहींसे-कहीं आ-जा सकता है, तो अपना कथ्य स्पष्ट होता है, लेकिन अगर

हम राजस्थानकी धरतीका विस्तार व्यंजित करनेके लिए कहें—'अफ्रीकाके रेगिस्तान सहाराका विस्तार', तो भारतके जिन लोगोंने सहाराको नही देखा है, उनके मनमें राजस्थानके विस्तारका कोई स्पष्ट चित्र सामने नहीं आयेगा। उपमा सदा परिचित वस्तुओंसे ही दी जानी चाहिए। हाँ, प्रश्न हो सकता है—किन लोगोंकी परिचित वस्तुओंसे? वार्त्ताकारकी नहीं, श्रोताओंकी। और, इसके लिए यह जानना अनिवार्य हो जाता है कि वह किसके लिए, किस वर्गके श्रोताओंके लिए वार्त्ता प्रसारित कर रहा है। वार्त्ताकारको इस बातका ध्यान रखना पड़ेगा कि उसकी वार्त्ता बच्चोंके लिए है, महिलाओंके लिए है, ग्रामीणोंके लिए है या शिक्षितों एवं साहित्यिकोंके लिए है। श्रोता-वर्गोंका प्रभाव किस प्रकार वार्त्ताकी रचना-पर पड़ता है, इसका विवेचन हम आगे यथास्थान करेंगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि वार्त्ता जिस वर्गके लिए है, उसकी परिचित वस्तुओं द्वारा ही उसमें चित्रमयता आनी चाहिए।

चित्रात्मकतामें सबसे अधिक बाधक होती हैं संख्याएँ। बड़ी-बड़ी संख्याओंका सुनना श्रोताओंको बहुत ही अरुचिकर होता है। सभी अनुभवी प्रसारणकर्त्ताओंने इसपर ज़ोर दिया है कि वार्त्ताओंमें आँकडोंका कमसे-कम व्यवहार होना चाहिए। जॉन एस० कार्लाइल साफ शब्दोंमें कहते हैं कि 'नीरस आँकडोंको दूर रखिए।' लेकिन आँकड़ोंके बिना काम तो चलनेवाला है नहीं, इसलिए उन्हें भी आकर्षक और प्रभावोत्पादक ढंगसे प्रस्तुत करना वार्त्ताकारका कर्तव्य है। कार्लाइलके ही शब्दोंमें, 'बड़ी-बडी संख्याओंको चित्रोंमें परिवर्तित कर दीजिए।' उदाहरणके लिए जैसा कि जेनेट डनबर कहते हैं कि कोई वार्त्ताकार नगर-योजनापर बोलते समय श्रोताओंको आबादीकी सघनताकी झलक देना चाहता है। वह जानता है कि सामान्य श्रोताके लिए जैसे नब्बे हज़ारका कोई अर्थ नही है, वैसे ही पचहत्तर हज़ार-का भी। लेकिन अगर वह कहे, 'इस नये नगरमें हर व्यक्तिको एक अपना घर होगा, और हर नवविवाहित दम्पतिको सब सुविधाओंसे सम्पन्न

एक फैक्ट', तो वह ऐसा कुछ कह रहा है, जिसे श्रोता सरलतासे ग्रहण कर सके।

इस तरहका एक उदाहरण हमलोग प्रसारित वार्त्ताओंसे लें। आकाशवाणीसे प्रसारित वार्त्ताओंमें अधिकतर नीरस आँकड़े ही प्रस्तुत किये जाते हैं। 'नवीन भारतके तीर्थ-स्थान' वार्त्तामें यह एक अंश है—

'मयूराक्षीका पानी अब प्रतिवर्ष वीरभूम, वर्दमान और मुर्शिदाबाद, इन तीन जिलोंकी ६ लाख एकड़ भूमिका अभिषेक कर रहा है और इस सिंचनसे ३६ लाख मन अतिरिक्त धान और चावल बंगालको प्रतिवर्ष मिल रहा है।'

[आकाशवाणी प्रसारिका, अप्रैल-जून १९५६]

सचमुच सामान्य श्रोताके लिए छ लाख और आठ लाखमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसी प्रकार, जैसा ३६ लाख मन, वैसा ही ४० लाख मन। इन आँकड़ोंसे कोई निश्चित धारणा इनके सम्बन्धमें नहीं बनती। लेकिन वार्त्ताकार चाहे, तो निश्चित धारणा बनायी जा सकती है'मयूराक्षीके पानीसे अब प्रति वर्ष बंगालकी धरतीका लगभग पाँचवाँ हिस्सा सींचा जा रहा है–वीरभूम, मंगेदार, वर्दमान और मुर्शिदाबादकी छ लाख एकड़ धरती। उसमें उपज भी बढ़ी है। बंगालको अब प्रति वर्ष ३६ लाख मन अधिक धान और चावल मिल रहा है। इस अधिक उपजका मतलब यह है कि बंगालके हर आदमीको अब हर साल २८ सेर अनाज अधिक मिल रहा है। इस अनाजसे कलकत्ताका हर आदमी—बच्चा, बूढ़ा और जवान, स्त्री-पुरुष—लगभग डेढ़ महीने तक रोज भोज खा सकता है।'

इस प्रकार शब्दोंकी शक्तिका उपयोग कर रेडियो-श्रोताओंकी मानसिक दृष्टिके लिए पर्याप्त रोचक सामग्री उपस्थित की जा सकती है।

०

रेडियो-वार्ता और श्रोताकी ग्रहण एवं स्मरण-शक्ति

फुटबालके मैदानमें जब निश्चित समयपर एक दल नहीं उपस्थित होता, दूसरा दल एकतरफा गोल करके अपनेको विजयी समझ लेता है। डियो-वार्ता-प्रसारणके समय श्रोता हमेशा ही वार्ताकारके सामनेसे अनुप-स्थित रहता है, फलतः यह भय बना रहता है कि कहीं वह भी एकतरफा गोल तो नहीं कर रहा है। रेडियो-कार्यक्रमोंकी सार्थकता उनके प्रसारणमें हीं, उनकी प्रेषणीयतामें है। वार्ताकार अपनी वार्ता प्रसारित कर देता , यहीं उसका कार्य समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि उसे यह भी देखना है क दूसरे छोरपर उसकी वार्ता केवल सुनी ही नहीं जाती, बल्कि ग्रहण भी जाती है। एक अनुभवी रेडियो-लेखक कहता है कि वार्ताकारकी टेबुल-र यदि कोई ऐसा यन्त्र लगाया जाय, जिसकी जलती-बुझती बत्तियाँ वार्ता-ारको सूचित करती रहे कि कितने लोग उसकी वार्ता सुन रहे हैं और नपर उसकी क्या-क्या प्रतिक्रियाएँ हो रही हैं, तो उसे अपने प्रसारण-र्यकी सफलताका कुछ ज्ञान हो। ऐसा कोई यन्त्र अभी तक बना नहीं , इसलिए वार्ताकारको प्रसारणके पहलेसे ही इतना सतर्क रहना है क उसकी वार्ता उसके श्रोताओंके पास पहुँचे ही। इस पहुँचनेका अर्थ यह कि वार्ताकार जो कुछ कहे, श्रोता उसे सरलतासे समझे, उसे ग्रहण

करे, उससे प्रभावित हो, उससे आनन्द प्राप्त करे, और आवश्यकता समझे, तो उसे स्मृतियोंके कोषमें रक्षित रख सके।

जैसा पहले कहा जा चुका है, रेडियोका श्रोता निबन्ध-पाठकोंसे भिन्न है, उसे प्रसारित रेडियो-कार्यक्रमके किसी अंशको दुबारा सुननेकी सुविधा नहीं है। रेडियोसे काव्य-प्रसारणके सम्बन्धमें बोनामी डोब्री कहते हैं—'मुद्रित कविता पढ़नेसे भिन्न, यदि आप उसे प्रसारित रूपमें सुनते हैं, तो उसका अधिकाधिक अंश एक ही बारमें ग्रहण करनेमें आपको समर्थ होना चाहिए।' रेडियो-वार्त्ताके लिए भी यह बात बिलकुल सही है। श्रोता किसी वार्त्ताको एक ही बार सुनकर उसका अधिकाधिक अंश ग्रहण करनेमें समर्थ हो सके, इसका अधिक उत्तरदायित्व वार्त्ताकारपर है। इसके लिए सबसे पहली आवश्यकता यह है कि वार्त्ताकारकी अभिव्यक्ति साफ और सुलझी हुई हो। रेडियोके सभी अनुभवी प्रसारणकर्ता इस सरल एवं स्पष्ट अभिव्यक्तिको प्रसारणकी पहली शर्त मानते हैं। देखने और कहनेमें यह बड़ी सीधी और छोटी-सी बात है, पर व्यवहारमें स्पष्ट अभिव्यक्ति बहुत ही कठिन है। प्रसिद्ध वक्ता डेल कार्नेगी कहते हैं—'स्पष्टताके महत्त्व और उसकी कठिनाईको कम मत समझिए। अभी हाल ही मैंने एक आयरिश कविको अपनी कविताएँ सुनाते हुए देखा। आधे समय तक दर्शकोंका दस प्रतिशत भी यह नहीं समझ रहा था कि वह किस विषयपर बातें कर रहा है। जनताके बीच और व्यक्तिगत जीवनमें भी ऐसे वार्त्ताकार बहुत हैं।' अपने यहाँकी प्रसारित वार्त्ताओंमेंसे ऐसे अनेक अंश उद्धृत किये जा सकते हैं, जिन्हें केवल एक बार सुनकर समझ लेना कठिन ही नहीं, असम्भव है। 'आकाशवाणी प्रसारिका' [अक्तूबर-दिसम्बर १९५७] में प्रकाशित दो वार्त्ताओंसे एक-एक अंश उद्धृत है। पहला अंश 'आचार्य वल्लभका दरबार' शीर्षक वार्त्ताका है :

'मनुष्यके हृदय और मस्तिष्कका गौरव जब-जब साहित्यके रूपोंमें अभिव्यक्त हुआ है तब-तबके उन साहित्यके रूपकी जब हम आलोचना

करते हैं तब हमें यही एक सत्य दृष्टिगोचर होता है कि अपने युगजीवनके घेरेके भीतर रहकर ही, उन्हीं परिस्थितियोंमें मनुष्यने अपनी मानवताके सीमित रूपको अनन्त बनानेका प्रयास किया है। अपने युगकी पूजा-सामग्री-से असीमकी उपासना करके सीमित मानव अपने साहित्यके माध्यमसे असीम बन जानेके सतत प्रयत्न करता चला आ रहा है। वेदोंके युगसे आरम्भ करके ब्राह्मण, उपनिषद् तथा पुराणोंके युगोंकी साहित्यिक साधनाका दर्शन करते हुए वर्तमान युग तक पहुँचकर हम इसी सत्यका साक्षात्कार करते हैं कि प्रत्येक साहित्यमें मनुष्यने अपने युगकी सामग्रीके भीतर ही, अपने युगकी परिस्थितियोंके भीतर ही अपने अनन्त स्वरूपकी साधना करनेका प्रयास किया है।'

यह दूसरा अंश 'रोमांस' शीर्षक वार्ताका है :

'यूरोपके इतिहासके पृष्ठोंको उलटनेसे यह ज्ञात होता है कि सम्पूर्ण मध्य युगके पतनमें ग्रीको रोमन रीति-रिवाज तथा कुलीन तन्त्रके ट्यूटेनिक रीति-रिवाजोंमें एक विचित्र विभाजन है। दोनों प्रकारके रीति-रिवाज सभ्यताके निर्माणकी ओर अग्रसर हो रहे थे, परन्तु दोनोंके मार्ग भिन्न-भिन्न थे। कुलीनतन्त्र वर्गने सभ्यताके लिए सामान्य विधि, धर्म निरपेक्ष सरकार, वीरता, कविता और रोमांस प्रदान किया। इन अनेक देनोंमें रोमांस एक महत्वपूर्ण देन थी।'

इन दोनों उद्धरणोंकी बोधगम्यताके सम्बन्धमें अपनी ओरसे कुछ कहनेकी अपेक्षा यही उचित ज्ञात होता है कि इसके साथ ही सरल एवं स्पष्ट अभिव्यक्तिके उदाहरण-स्वरूप भी एक अंश उद्धृत कर दिया जाय। यह अंश 'सर्वोदय' शीर्षक वार्ताका है; यह वार्ता भी आकाशवाणीसे प्रसारित हुई थी। उद्धृत अंशमें यह देखा जा सकता है कि सत्यकी शोध-जैसे गम्भीर विषयकी व्याख्या किस प्रकार की गयी है :

'यह सर्वोदय विचार है क्या ? पहली बात यह समझ लेनी चाहिए कि यह कोई वाद नहीं है, जैसे कि कई प्रकारके वाद आज प्रचलित हैं

है इसकी गति। इसीको विद्युत्-तरंग भी कहते हैं। बोसने इसके गुणोंके सम्बन्धमें जो खोज की, वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आदि-आदि।'

सभी क्षेत्रके विशेषज्ञोंको सामान्य श्रोताओंके लिए वार्त्ता प्रसारित करते समय इस बातपर ध्यान रखना चाहिए। श्रोताओंमें अधिक ज्ञानका अनुमान कर लेना वार्त्ताकी बोधगम्यतामें बहुत ही बाधक होता है। श्रोता एक ही मानसिक स्तरपर नहीं होते। उनकी शिक्षा, संस्कार, ज्ञान, सभी विभिन्न स्तरोंपर होते हैं। वार्त्ताकारको इन विभिन्नताओंपर ध्यान रखना है। उसे अपनी वार्त्ताको उस स्तरपर रखना है, जहाँ वह अधिकाधिक श्रोताओंके लिए बोधगम्य हो सके। ऐसा न करना वार्त्ताओंको असफल बनाना है। प्रो० बर्ननने रेडियो-वार्त्ताओंकी बोधगम्यताके सम्बन्धमें खोज की है, और वे इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि 'सबसे कम समझमें आनेवाली वार्त्ताएँ वही रही हैं, जिनमें वार्त्ताकारोंने अपने श्रोताओंमें बहुत अधिक ज्ञानका अनुमान कर लिया था।' जेनेट डनबर भी यही बात कहते हैं कि 'कुछ लोग अपने श्रोताओंकी मौलिक सूचनाओंको बहुत अधिक मान लेते हैं, और उनकी बातें श्रोताओंके सिरके ऊपरसे ही निकल जाती हैं।' सचमुच वार्त्ताकारको सतर्क रहना है कि उसकी बातें श्रोताओंके सिरके ऊपरसे ही न निकल जायँ, बल्कि सिरके भीतर पहुँचें। श्रोताओंमें किस प्रकार अधिक ज्ञानका अनुमान कर लिया जाता है, इसका परिचय 'बदरीनाथ' शीर्षक वार्त्ताके इस अंशसे मिल जा सकता है। वार्त्ताकार मन्दिरोंकी चर्चा करता है :

'इस मन्दिरका शिखर उत्तर भारतके शिखरमन्दिरोंकी नागरशैलीका है, जिसे शुकनासा शिखर भी कहते हैं। इसके ऊपरी छोरपर एक आमलक सरीखा कलश है। अलकनन्दाकी घाटीमें इसी प्रकारके मन्दिर हैं, और इनका सम्बन्ध विष्णुकी आराधनासे है। परन्तु पास हीकी मन्दाकिनी घाटीमें शिव-मन्दिरोंका साम्राज्य है। उनपर स्पष्ट रूपमें दक्षिणकी

गणितमें हो सकती है, दूसरेकी दर्शनमें, तीसरेकी साहित्यमें, इसी प्रकार विभिन्न व्यक्तियोंकी रुचियाँ विभिन्न विषयोंमें। यह रुचियोंके भिन्न-भिन्न धरातलों और प्रकारोंकी बात है, यह अपनी जगहपर सही है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लेकिन रुचियोंका एक सामान्य धरातल भी होता है, कुछ ऐसे स्तर भी है, जहाँ व्यक्ति-व्यक्तिकी रुचिका अन्तर मिट जाता है। उन स्तरोंपर बात करके वार्त्ताकार अपनी वार्त्ता अधिकांश श्रोताओंके लिए रोचक बना सकता है। यहाँ कुछ ऐसे स्तरोंकी बात की जा रही है।

मनोवैज्ञानिक मानव-मनके अध्ययनके द्वारा इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि मनुष्यकी सबसे अधिक रुचि स्वयं अपनेमें होती है। प्रोफेसर जेम्स हार्वे राबिन्सन कहते हैं कि 'जागनेकी घड़ियोंमें हम लोग हमेशा ही अपने विषयमें सोचते हुए मालूम पड़ते हैं, और हमलोगोंमेंसे अधिक लोग जानते हैं कि सोते रहनेपर भी हमलोग इसी प्रकार सोचते जाते हैं।''''हमलोगोंके लिए स्वयं अपनेसे बढ़कर दूसरी कोई भी रोचक वस्तु नहीं है।' वार्त्ताकार मनोविज्ञानके इस अध्ययनसे लाभ उठा सकता है। वार्त्ताके विषयका सम्बन्ध श्रोताओंके जीवनसे होना चाहिए। श्रोताकी रुचि पंचवर्षीय योजनामें अन्न-उत्पादनमें उतनी नहीं, जितनी इस बातमें है कि उस अन्न-उत्पादनका प्रभाव स्वयं उसके और राष्ट्रके दूसरे व्यक्तियोंके जीवन-पर क्या पड़ेगा, नाप-तौलकी नयी मेट्रिक प्रणालीमें उतनी रुचि नहीं, जितनी इस बातमें है कि यह नयी प्रणाली उसके जीवनको किस प्रकार लाभान्वित करेगी। इस प्रकार किसी भी वार्त्ताका सम्बन्ध श्रोताओंके जीवनसे जोड़कर उसे रोचक बनाया जा सकता है। इस सम्बन्धमें जान एम० कार्लाइल एक उदाहरण देते हैं—'स्कूलके छात्रोंकी दो टोलियोंके बीच अभी हाल ही प्रसारित एक वाद-विवाद इसका बड़ा सुन्दर दृष्टान्त प्रस्तुत करेगा। विवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय विषयपर था, जिसके लिए सामसामयिक इतिहास, राजनीति आदिके विस्तृत ज्ञानकी अपेक्षा थी। 'कितना अच्छा

होगा, अगर छात्रोंके स्व शासनके गुण-दोषोंपर वाद-विवाद प्रस्तुत किया गया रहता।' सचमुच यह विषय स्कूलके छात्रोंके लिए अधिक रुचिकर होता।

यहाँ आकाशवाणीसे प्रसारित वार्त्ताओंके सम्बन्धमें यह कह देना उचित ज्ञात होता है कि उनके विषय वार्त्ताकार नहीं निश्चित करते, रेडियो-कार्यक्रमोंकी रूप-रेखा बनानेवाले वहाँके अधिकारी ही निश्चित करते हैं। वे ही वार्त्ताओंके विषय निश्चित करते हैं, और उनपर बोलनेके लिए वार्त्ताकारोंको आमन्त्रित करते हैं। वार्त्ता देनेके इच्छुक व्यक्ति भी कभी-कभी अपनी रचनाएँ विचारार्थ भेजते हैं, पर चूँकि उनमेंसे अधिकांश रचनाएँ वार्त्ता नहीं होतीं, वे स्वीकृत नहीं हो पातीं। कदाचित रचनाएँ भी वार्त्ताकी दृष्टिसे सफल होने तथा आकाशवाणीकी नीतिके अनुकूल होनेपर स्वीकृत होती हैं, और हो सकती हैं, इसमें सन्देह नहीं। विषय-का निश्चय चाहे रेडियो-अधिकारी करें, चाहे वार्त्ता देनेके आकांक्षी व्यक्ति, सबका ध्यान वार्त्ताके रोचक पक्षपर होना चाहिए। यह बहुत ही महत्त्व-पूर्ण प्रश्न है। मैं समझता हूँ कि रेडियो-वार्त्ताको रोचकताकी जितनी कठिन प्रतियोगितासे गुजरना पड़ता है, उतनी और किसी भी साहित्य-रूपको नहीं। सूईकी नोक जितनी दूरीपर गीत चल रहा है, नाटक हो रहे हैं, जिनकी रोचकतामें सन्देह नहीं किया जा सकता। इन सबके साथ रेडियो वार्त्ताकी प्रतियोगिता है। श्रोता रेडियो-वार्त्ता सुने और सुनता रहे, सूई-को गीतवाले स्टेशनपर न लगा दे, वार्त्ताकारको इस बातपर ध्यान देना है। इसीपर उसकी सफलता निर्भर है। और, यह विषय और अभिव्यक्तिकी रोचकताके द्वारा ही हो सकता है।

रोचकताके सम्बन्धमें दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि मनुष्य विचारों और भावोंसे अधिक दूसरे लोगोंके जीवनमें अभिरुचि रखता है। दूसरे लोगोंके जीवनकी कहानियोंमें भी आकर्षण होता है। कहानियों और उपन्यासोंमें जो इतनी रोचकता होती है, उसका यही रहस्य है। जिन वार्त्ताओंके [illegible] तत्त्वोंसे सम्बन्ध रखेंगे, वे रोचक होंगे, इसमें

१९५४को लगभग ३ अरब १ करोड़ ३३ लाख रुपयेकी थी और विदेशी कम्पनियोंकी लगभग ५० करोड़ ९१ लाख रुपयेकी। इनमेंसे भारतीय *बीमा-कम्पनियोंने* १ अरब ६४ करोड़ ९० लाख रुपया यानी ५.४६ प्रतिशत रुपया सरकारी सिक्यूरिटियोंमें, ४८ करोड़ ५७ लाख रुपया यानी १६ प्रतिशत रुपया प्राइवेट कम्पनियोंके हिस्सोंमें और ३० करोड़ ९७ लाख रुपया यानी ३० प्रतिशत रुपया रेहन, भूमि और मकानों आदिमें लगाया हुआ है। इसी प्रकार विदेशी कम्पनियोंका ३० करोड़ ६४ लाख रुपया भारतीय कम्पनियोंमें और बाकी विदेशी सरकारोंकी सिक्यूरिटियोंमें लगा हुआ है।

जीवन-बीमाका राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया है, इसपर प्रकाश डालते हुए भूतपूर्व वित्तमन्त्री श्री देशमुखने निम्न तीन बातें बतायी थीं—

१—दूसरी पंचवर्षीय योजनाके लिए सरकारको पूँजीकी सख्त जरूरत है।

२—*पहली पंचवर्षीय योजनामें यह नीति बनायी गयी थी कि जनता*की बचतका जितना रुपया है, वह सब सरकारके अधिकारमें होना चाहिए ताकि वह महफूज रहे और राष्ट्रके कामोंमें लगाया जा सके।

३—देशमें समाजवादी आर्थिक ढाँचा कायम करनेके लिए भी उक्त कार्रवाई जरूरी है।'

[*आकाशवाणी प्रसारिका, अप्रैल-जून १९५६*]

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि एक साथ इतने आँकड़ों और तथ्योंका आना वार्ताको निश्चित रूपसे असफल बना देगा। लेकिन वार्ताकारोंमें ऐसा करनेकी प्रवृत्ति स्वभावतः होती है। वे सोचते हैं, दस ही मिनटका तो समय है, इसमें अधिकसे-अधिक सामग्री श्रोताओंको देनी चाहिए, पर ऐसा सोचना उचित नहीं। इस बातको भी याद रखना है कि बेतारके तारके दूसरे छोरपर बैठा हुआ श्रोता अपना रेडियो-सेट बन्द न कर दे या जो कुछ सुने भी, उसका कुछ अंश भी उसे याद रहे। सभी अनुभवी प्रसारणकर्ता प्रसारण-माध्यमों इस महत्त्वपूर्ण बातको समझते हैं, और इस-

सन्देह नहीं। यात्रा-विवरणों, अपने अनुभवों आदिसे सम्बन्धित वार्त्ताओंमें इस मनोवैज्ञानिक सत्यका उपयोग किया जा सकता है।

अभीतक श्रोताओंकी बोध-शक्ति और वार्त्ताकी बोधगम्यताके सम्बन्धमें विचार हुआ। अब हम श्रोताओंकी स्मरण-शक्तिसे सम्बन्धित प्रश्नोंपर विचार करेंगे। वार्त्ताकारको अपने श्रोताओंकी मानसिक शक्तिका भी ध्यान रखना पड़ता है। कोई भी बात स्मृतिमें टिक सके, इसके लिए वे सभी बातें अपेक्षित हैं जिनकी चर्चा हम अबतक करते रहे हैं। वार्त्ता सरल और स्पष्ट हो, सहज बोधगम्य हो, उसमें चित्रात्मकता हो, साथ ही मनपर गहरा प्रभाव डालनेकी शक्ति हो। इनके अतिरिक्त भी कुछ और बातें हैं, जिनपर ध्यान देना आवश्यक है।

एक ही बार बहुत-सी बातोंको सुनकर उन्हें स्मरण रखना सम्भव नहीं है। सामान्य श्रोताकी मानसिक शक्ति सीमित होती है, वह एक ही साथ अनेक तथ्योंको ग्रहण नहीं कर सकता। इसलिए यह आवश्यक है कि छोटी-सी अवधिकी वार्त्तामें बहुत-सी बातें न कही जायें। आकाशवाणीसे प्रसारित वार्त्ताओंकी अवधि पाँच मिनटसे लेकर बीस मिनट तककी होती है; बीस मिनटवाली वार्त्ताएँ तो विशेष कार्यक्रमोंमें ही होती हैं, सामान्य वार्त्ताकी अवधि दस मिनट रहती है। दस मिनटकी वार्त्तामें अनेकानेक तथ्योंको रखनेका प्रयत्न उचित नहीं, लेकिन होता अधिकतर यही है; पूरी वार्त्ताकी बात तो अलग है, एक-एक अनुच्छेदमें इतने तथ्योंको रखा जाता है कि श्रोताकी स्मृतिके पल्ले कुछ नहीं पड पाता। एक उदाहरण लीजिए :

'कण्ट्रोलर आफ इन्श्योरेन्स द्वारा ३१ दिसम्बर, १९५४ को प्रकाशित आँकडोंके अनुसार विदेशी बीमा-कम्पनियोंके पास भारतके लोगोंकी २ लाख ४४ हजार पालिसियाँ चालू थीं जो १ अरब ३६ करोड़ ९३ लाख रुपयेकी थीं और हर साल ७ करोड़ ४५ लाख रुपया उनको प्रीमियमके रूपमें अदा किया जाता है।

हिन्दुस्तानी जीवन-बीमा-कम्पनियोंकी कुल जायदाद ३१ दिसम्बर,

१९५४को लगभग ३ अरब १ करोड ३३ लाख रुपयेकी थी और विदेशी कम्पनियोंकी लगभग ५० करोड ९१ लाख रुपयेकी। इनमेंसे भारतीय बीमा-कम्पनियोंने १ अरब ६४ करोड ९० लाख रुपया यानी ५.४६ प्रतिशत रुपया सरकारी सिक्यूरिटियोंमें, ४८ करोड ५७ लाख रुपया यानी १६ प्रतिशत रुपया प्राइवेट कम्पनियोंके हिस्सोंमें और ३० करोड ९७ लाख रुपया यानी ३० प्रतिशत रुपया रहन, भूमि और मकानों आदिमें लगाया हुआ है। इसी प्रकार विदेशी कम्पनियोंका ३० करोड ६४ लाख रुपया भारतीय कम्पनियोंमें और बाकी विदेशी सरकारोंकी सिक्यूरिटियोंमें लगा हुआ है।

जीवन-बीमाका राष्ट्रीयकरण क्यों किया गया है, इसपर प्रकाश डालते हुए भूतपूर्व वित्तमन्त्री श्री देशमुखने निम्न तीन बातें बतायी थीं—

१—दूसरी पाँचसाला योजनाके लिए सरकारको पूँजीकी सख्त जरूरत है।

२—पहली पाँचसाला योजनामें यह नीति बनायी गयी थी कि जनताकी बचतका जितना रुपया है, वह सब सरकारके अधिकारमें होना चाहिए ताकि वह महफूज रहे और राष्ट्रके कामोंमें लगाया जा सके।

३—देशमें समाजवादी आर्थिक ढाँचा कायम करनेके लिए भी उक्त कार्रवाई जरूरी है।'

[आकाशवाणी प्रसारिका, अप्रैल-जून १९५६]

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि एक साथ इतने आँकडों और तथ्योंका आना वार्ताको निश्चित रूपसे असफल बना देगा। लेकिन वार्ताकारोंमें ऐसा करनेकी प्रवृत्ति स्वभावतः होती है। वे सोचते हैं, दस ही मिनटका तो समय है, इसमें अधिकसे-अधिक सामग्री श्रोताओंको देनी चाहिए, पर ऐसा सोचना उचित नहीं। इस बातको भी याद रखना है कि बेतारके तारके दूसरे छोरपर बैठा हुआ श्रोता अपना रेडियो-सेट बन्द न कर दे या जो कुछ सुने भी, उसका कुछ अंश भी उसे याद रहे। सभी अनुभवी प्रसारणकर्त्ता प्रसारण-सम्बन्धी इस महत्त्वपूर्ण बातको समझते हैं, और इस-

पर ज़ोर देते हैं। जैनेट डनबरका कथन है—'आपकी प्रवृत्ति बहुत अधिक तथ्योंको भर देनेकी होती हैं : वार्तामें इतनी सूचनाएँ भर देनेकी कि उसका दम घुटने-घुटने हो जाय। कुछ कहनेकी, शिक्षा देनेकी, अपने ज्ञानको दूसरोंके साथ बाँट लेनेकी यह उपदेशात्मक प्रवृत्ति है। अपनेमें यह बड़ी अच्छी प्रवृत्ति है, लेकिन इसे कठिनतम अनुशासन चाहिए, नहीं तो इसकी प्रेरणासे ऐसा प्रसारण होता है, जो श्रोतासे स्विच ऑफ करा देता है।' जॉन एस० कार्लाइल कहते है—'एक ही भाषणमें बहुत-से विचारोंका आना उलझन पैदा करनेवाला होता है। थोड़े-से समयमें आप बहुत-सी बातोंके बारेमें अच्छी तरह बातचीत नही कर सकते। अपने मिनटों और सेकेण्डोमे भीड़ मत लगाइए।' और, गैमलिनके शब्दोंमें, 'बी० बी० सी० को श्रोता-अनुसन्धान-समितिको नियमित रूपसे अपनी रिपोर्ट भेजनेवाले लगभग हमेशा ही यह विचार प्रकट करते है कि अमुक वार्ताकारने प्रसारणके लिए निश्चित समयमें बहुत अधिक बातें कहनेका प्रयत्न किया।' वार्ताकारको इन सभी अनुभवी लोगोंके विचारको वार्त्ता लिखते समय अवश्य ही स्मरण रखना चाहिए।

जहाँ अनुभवी विद्वानोंने यह कहा कि रेडियो-वार्त्तामे बातोंकी भीड़ न लगायी जाय, कुछ ही तथ्य स्पष्ट एवं प्रभावोत्पादक ढंगसे रखे जायँ, वहाँ यह भी कहा कि वार्त्तामें आयी मुख्य बातोंको कुछ-कुछ अन्तरपर व्यक्त किया जाय। हर तथ्यके साथ उसकी पर्याप्त व्याख्या होनी चाहिए। अनेक तथ्योंको एक ही साथ गिना देना उचित नही है। इससे वार्त्ताको समझनेमें भी श्रोताको कठिनाई होगी और उन्हें स्मरण रखना तो असम्भव होगा ही। यही एक बात यह भी कह दी जाय कि वार्त्तामें कोई ऐसा स्थल या ऐसा तथ्य नही आना चाहिए, जिसको समझनेके लिए आगे या पीछेके संकेतोंको फिरसे देखनेकी ज़रूरत हो। मुद्रित सामग्रीका पाठक आगे या पीछेके अंशोंको आवश्यकतानुसार फिरसे देख सकता है, रेडियोका श्रोता ऐसा नही कर सकता, इसकी चर्चा पहले हो चुकी है। रेडियो-श्रोताको इस

सीमाको ध्यानमें रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, यदि वार्त्ताकार कहे कि 'अरबोंने चीन, भारत और यूनानसे क्रमशः कागज और प्रेम, चिकित्सा और साहित्य तथा दर्शन और विज्ञान प्राप्त किये,' तो श्रोताके लिए यह समझना कठिन होगा कि किन विषयोंका सम्बन्ध किन देशोंसे है। पाठक इसे सरलतासे समझ लेगा। वार्त्ताकारको देशों और विषयोंको अलग-अलग करके समझाना होगा।

स्मरण-शक्तिमें सबसे अधिक दायुता तो बड़ी-बड़ी संख्याओंसे होती है। उन्हें स्मरण रखना बहुत ही कठिन होता है। प्रसिद्ध लेखक मार्क ट्वेन कहते हैं कि 'संख्याएँ बहुत ही एकरस और अनाकर्षक होती हैं, और वे टिकती नहीं।' इन्हें आकर्षक और स्मृतिमें टिकने योग्य बनानेके अनेक उपाय हैं, जिनके उल्लेख पहले आये हैं और कई उदाहरण भी दिये गये हैं। इनके सम्बन्धमें इनवरका यह विचार ध्यानमें रखना चाहिए—'अगर आप श्रोताको आँकड़े देते हैं, तो उन्हें मापनेके लिए मापदण्ड भी दीजिए।' पहले जैसा कहा गया है, श्रोताके लिए सत्तर लाख और नब्बे लाखमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। अगर उन्हें प्रति व्यक्ति, प्रति घण्टा, प्रति दिन आदिकी छोटी इकाइयोंमें परिवर्तित कर दिया जाय, तो उनका महत्त्व भी ज्ञात होगा, और वे संख्याएँ याद भी रह सकेंगी।

वार्त्ताका रूप-संगठन भी स्मरण-शक्तिसे सम्बन्ध रखता है। श्रोता वार्त्ताको सुनता भी जाता है, और उसे भूलता भी जाता है, यह हम देख चुके हैं। वार्त्ताकी समाप्तिपर सामान्य श्रोताके लिए उसके प्रारम्भ और विकासके सम्बन्धमें निश्चित रूपसे कुछ कह सकना सम्भव नहीं होता। वार्त्ता-रचना, श्रोताकी इस सीमाको देखते हुए, किस प्रकारकी हो, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। प्रोफेसर जेम्सने कहा है—'हमारा मस्तिष्क मुख्यतः एक सम्बद्ध करनेवाला यन्त्र है।' लेकिन इस सम्बद्ध करनेवाले यन्त्रको उन्हीं वस्तुओंसे अधिक सहायता मिल सकती है, जो स्वयं परस्पर सम्बद्ध हों, जिनकी कड़ियाँ एक-दूसरीसे अच्छी तरह जुड़ी हुई हों। अगर हम कोई

सुगठित कहानी सुनते हैं, तो उसे स्मरण रख पाते हैं। क्यों? जैनेट डनबर इसका उत्तर देती हैं—'आप कहानीके साथ चल रहे हैं—आपने एक क्षण पहले जो सुना, उसको, इस क्षण आप जो सुन रहे हैं, इसके साथ जोड़ते हुए। अर्थात् आपका सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध-स्थापन ही अर्थगृहीत करता है।' इसके विपरीत हम कोई मनोवैज्ञानिक कहानी ले सकते हैं, जिसमें सब कुछ भाव-ही-भाव है, केवल चेतना-प्रवाह, एक वस्तुका दूसरी वस्तुसे कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसी कहानी मस्तिष्कमें टिकती नहीं, उसका प्रभाव मात्र शेष रह जाता है। इसी प्रकार विचारोंकी अस्त-व्यस्ततापर निर्मित वार्ता स्मृतिके लिए अनुपयुक्त होती है। वार्तामें विचारोंका शृंखलाबद्ध रहना आवश्यक है। तर्क-सम्मत कारण-कार्य-सम्बन्धोंपर आधारित वार्ता ही सफल वार्ता कही जा सकती है। डनबरके ही शब्दोंमें—'अगर आप अपने विचारोंको प्रेषणीय बनाना चाहते हैं, तो बड़ी सावधानीसे उन्हें सुनिश्चित क्रममें रखिए, जिससे उन्हें पहली बार सुननेपर ही उनका केवल समझना ही आसान न हो, बल्कि याद रखना भी सम्भव हो।'

अन्तमें यह कहा जा सकता है कि कोई वार्ता अपने अपेक्षित श्रोताओंके पास पहुँच सके, इसके लिए आवश्यक है कि वह सरल एवं स्पष्ट हो, उसमें बातोंको घुमा-फिराकर न कहकर सीधे प्रत्यक्ष ढंगसे कहा जाय, कठिन तथ्योंको विभिन्न शब्दावलियोंमें व्यक्त किया जाय, टेकनिकल या शास्त्रीय शब्द बिलकुल न हों, हों भी, तो उनकी पर्याप्त व्याख्या की जाय, आँकड़ोंसे बचा जाय, और, उनके बिना काम न चलनेवाला हो, तो उन्हें छोटी इकाइयोंमें आकर्षक रूपमें उपस्थित किया जाय, तथ्योंकी भरमार न की जाय, और रोचकता एवं सुसम्बद्धतापर विशेष ध्यान दिया जाय। श्रोताकी स्मृतिको सहायता देनेका एक उपाय यह भी है कि तथ्यप्रधान वार्ताओंके अन्तमें वार्ताकी मुख्य बातोंका सारांश दे दिया जाय, जैसा अभी किया गया।

रेडियो-वार्ता और व्यक्तित्वका प्रश्न

बी० बी० सी०के कुछ प्रसिद्ध सफल रेडियो-वार्त्ताकारोंके नाम हैं : जे० बी० प्रीस्टली, ए० जे० एलन, सी० एच० मिड्लटन, एलिस्टेयर कूक और जान हिल्टन। इनके सम्बन्धमें एल्कन एण्ड डोरोथियन एलनका विचार है कि इनकी सबसे बड़ी विशेषता, जो इन्हें दूसरे सामान्य वार्त्ताकारोंसे पृथक् करती है, अपने श्रोताओं और अपने बीचकी दूरीको मिटानेकी है। इनकी वार्त्ताएँ सुनते समय श्रोता यह नहीं अनुभव करते कि वार्त्ताकार उनसे बड़ी दूर है। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि इन वार्त्ताकारोंने रेडियोके माध्यमकी सूक्ष्म अपेक्षाओंको भी बड़ी गहराईसे समझा है, और उनके अनुरूप कार्य किया है। रेडियो-माध्यमकी सबसे बड़ी विशेषता आत्मीयता है। सचमुच रेडियो-जैसा आत्मीय माध्यम हमारे युगमें दूसरा नहीं है। यहाँ आत्मीयताका व्यवहार किसी विशेष अर्थमें नहीं हो रहा है, आत्मीयताका सीधा-सा अर्थ मैत्री और स्नेह-सम्बन्धका ही लिया जा रहा है। जब हम अपने पास बैठे दो-तीन मित्रोंसे बातें करने लगते हैं, हमारे बीचकी दूरी मिट जाती है, हम सभी आत्मीयताका अनुभव करने लगते हैं। सफल रेडियो-प्रसारण भी इस प्रकारका अनुभव करा सकता है। इस सम्बन्धमें लियोनेल गैमलिनका कथन है कि 'वास्तवमें, प्रत्येक प्रसारण एक आत्मीय अनुभव है, जिसमें प्रसारणकर्त्ता [एक व्यक्ति हो या सौ हों] और एकाकी श्रोता [अलग-अलग बैठे हुए लाखों

व्यक्तियोंमें-से एक] सहभोक्ता होते हैं।' मैं समझता हूँ, यह बात सबसे अधिक रेडियो-वार्त्ताके लिए ही सही है। दूसरे माध्यमोंके साथ रेडियोकी तुलना करनेपर इसकी सत्यता स्वतः स्पष्ट हो जायगी।

मुद्रण यन्त्रके माध्यमसे हम रेडियोकी तुलना कई दृष्टियोंसे कर आये हैं : एक और दृष्टिसे फिर देखें। लेखकको जो कुछ कहना होता है, वह लिख देता है, उसका कथ्य मुद्रित होकर पाठकोंके पास पहुँचता है। इसका अर्थ यह हुआ कि लेखक अपने पाठकोंके सामने प्रत्यक्ष रूपसे नहीं आता, पाठक लेखकके व्यक्तित्वके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें नहीं आता। रेडियो-वार्त्तामें ऐसी बात नहीं होती; यहाँ वार्त्ताकार प्रत्यक्ष रूपसे अपने श्रोताओंके सामने अपने विचार प्रकट करता है, उसका व्यक्तित्व श्रोताओंके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें रहता है। रेडियो-वार्त्ताके स्वरूपपर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, या पड़ना चाहिए, इसपर विचार करनेके पहले रेडियोकी तुलना सामूहिक प्रेषणीयताके दूसरे उपलब्ध माध्यमोंसे कर लेना उचित होगा। एक माध्यम हैं प्लेटफार्म, यानी प्रत्यक्ष भाषण। प्रत्यक्ष भाषणमें वक्ता अवश्य ही अपने दर्शकों-श्रोताओंके सम्मुख उपस्थित रहता है, पर यहाँ वह व्यक्तियोंसे बातें नहीं करता, समूहसे बातें करता है। प्लेटफार्मसे अलग-अलग व्यक्तियों-से बातें करना सम्भव है ही नहीं। यहाँ एक व्यक्ति एक बड़े समूहके सम्पर्कमें आता है, फलतः व्यक्ति-व्यक्तिके बीच जो आत्मीय सम्बन्ध होना चाहिए, वह नहीं होता। रेडियो-वार्त्तामें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तिसे ही बातें करता हैं, यह दूसरी बात है कि यह दूसरा व्यक्ति अलग-अलग बैठे हुए हजारों व्यक्तियोंका अंग है। यहाँ व्यक्ति-व्यक्तिके बीच होनेवाली आत्मी-यता सम्भव है। सामूहिक प्रेषणीयताका तीसरा माध्यम है टेलिविज़न। टेलिविज़नमें भी वक्ता अपने दर्शकों-श्रोताओंके सामने प्रत्यक्ष रूपसे रहता है। यहाँ दर्शक वक्ताको अपनी आँखोंके सामने चित्रमें देखते रहते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि चित्रमें रहना ही दूरीकी व्यंजना करता रहता है। फिल्म देखते समय हम प्रत्यक्ष ही अनुभव करते रहते हैं कि

चित्रमें आनेवाले व्यक्ति हमसे दूर हैं। फलतः उनसे आत्मीयताका अनुभव नही किया जा सकता। रेडियो-वार्तामें वक्ताकी केवल आवाज ही श्रोताओंके पास पहुँचती है, और यदि वार्ताकार प्रतिभा-सम्पन्न एवं अपनी कलामें कुशल है, तो वह अपनी वाणीसे श्रोताओंको उनके निकट ही अपनी उपस्थितिका अनुभव करा सकता है। कभी-कभी हम अपनी आँखें बन्द किये, आरामसे बैठकर अपने सम्मुख उपस्थित मित्रोंकी बातें सुना करते हैं। वार्ताकारकी सफलता श्रोताओंको ऐसा अनुभव करा देनेमें ही है। बी० बी० सी० के एक प्रसिद्ध प्रसारणकर्त्ताका नाम है मैक्लिआड। युद्ध कालमें वह मध्य रात्रिका समाचार एडिनबर्गकी कुछ नर्सोंके लिए प्रसारित किया करता था। इस प्रसारणके समय उसकी आवाज, साधारण आवाजकी अपेक्षा, काफी धीमी होती थी, क्योंकि वह मरीजोंसे भरे अस्पतालमें समाचार सुनाता था। उसके इस प्रसारणकी काफी प्रशंसा थी। वार्ताकार-श्रोताके बीच जिस आत्मीयताकी अपेक्षा होती है, उसे स्थापित करनेमें वह सफल रहता था।

अब तक यह स्पष्ट हो गया होगा कि रेडियोका माध्यम प्रेषणीयताके सभी माध्यमोंमें अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। इसकी अपनी विशेषताएँ हैं। इसमें व्यक्ति-व्यक्तिके बीचका सजीव सम्बन्ध रहता है। बेतारका तार सचमुच दो सजीव तारोंको मिलानेवाला होता है। इसमें एक व्यक्ति बोलता है, ऐसा मनुष्य, जो मशीन नहीं है, ग्रामोफोनका रिकार्ड नहीं है, टेलिविजन या फिल्मोंका चित्र नहीं है, बल्कि एक सजीव प्राणी है। यहीं वार्ताकारके व्यक्तित्वका प्रश्न आता है।

रेडियो-वार्तामें व्यक्ति विशेष बोलता है, इसलिए व्यक्तित्वका प्रश्न स्वाभाविक ही है। अनुभवी प्रसारणकर्ताओंने प्रसारणमें व्यक्तित्वको सबसे अधिक महत्त्व दिया है। लियोनेल गैमलिनके शब्दोंमें—'इस सबसे नई कलाकी सबसे बड़ी विशेषता है—व्यक्तित्व। माइक्रोफोनके सामने व्यक्तित्वके कलात्मक प्रक्षेपणपर ही किसी प्रसारणकी प्रभावोत्पादकता नि

बनना-बिगड़ना निर्भर है ।' अपनी पुस्तक 'ब्राडकास्टिंग' में हिल्डा मैथिसन-का कथन है—'प्रसारणमें जिसका महत्त्व है, वह है जीवन-दृष्टि—यह प्रसारण चाहे मनोरंजनका हो, शिक्षाका हो, संगीतका हो, या और किसी दूसरे प्रकारके कार्यक्रमका हो । यह उन मानवीय प्राणियोंके बीच आत्मीय सम्बन्ध प्रदान करती है, जो परस्पर प्रत्यक्ष सम्पर्कमें कभी नहीं भी आ सकते थे, यह व्यक्तित्वके तत्त्वको बढ़ा देती है ।'

इसमें सन्देह नहीं कि रेडियो-वार्तामें वार्त्ताकारका व्यक्तित्व बहुत ही महत्त्वपूर्ण है । पर यह व्यक्तित्व है क्या ? जैसा कि डेल कार्नेगीने कहा है, 'यह धुँधली और पकड़में न आनेवाली चीज़ है, फूलकी गन्धकी तरह ही यह विश्लेषणसे परे हो जाती है । यह व्यक्तिकी शारीरिक, आत्मिक, मानसिक, सभी विशेषताओंकी समष्टि है : उसकी चारित्रिक विशेषताएँ, उसकी इच्छाएँ, उसकी प्रवृत्तियाँ, उसका स्वभाव, उसकी मानसिक दृष्टि, उसकी शक्ति, उसका अनुभव, उसका प्रशिक्षण, उसका जीवन, सब कुछ ।' सब मिलाकर व्यक्ति विशेषका व्यक्तित्व बनता है । प्रत्येक व्यक्तिका अपना व्यक्तित्व होता है, उसकी अपनी विशेषताएँ होती हैं । जैसे हर आदमीका चेहरा अपनी तरहका होता है, वैसे ही हर व्यक्तिका अपना व्यक्तित्व होता है । प्रसिद्ध चिन्तक एमर्सनने सत्य ही कहा है, 'प्रत्येक व्यक्तिके स्वभावकी अपनी सुन्दरता होती है ।' अपने दैनिक जीवनमें इसका अनुभव हम करते रहते हैं : सबका अपना सोचनेका ढंग है, बोलने और बातें करनेका ढंग है, चलनेका ढंग है । हाँ, आजके युगमें ऐसे अनेक उपकरण आ गये हैं, जो व्यक्तियोंकी अपनी-अपनी विशेषताओंको मिटाकर उन्हें एक सामान्य साँचेमें ढालनेका प्रयत्न करते हैं । उन उपकरणोंकी विस्तृत चर्चा करना यहाँ अप्रासंगिक होगा । यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि आधुनिक युगमें, जहाँ व्यक्तियोंकी विशिष्टताएँ धीरे-धीरे मिट रही हैं, वहाँ अगर हम किसीके जीवनमें कोई विशिष्टता देखते हैं, तो उससे प्रभावित होते हैं । इन विशिष्टताओंका महत्त्व है । इन्हें ही हम मनुष्यकी वैयक्तिकता कहते हैं ।

चूँकि रेडियो वार्तामें व्यक्तित्व ही बोलता है, जैसा कि हम देख चुके हैं, इसमें वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति निश्चित रूपसे होनी चाहिए। जैनेट डनबर कहते हैं, 'प्रसारणमें सम्भवतः सबसे बड़ी चीज वैयक्तिकता ही है।'

रेडियो-वार्तामें वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति इस प्रकारसे हो कि श्रोताको लगे कि यह वार्ताकार कोई भी उमेश या महेश नहीं हो सकता, यह विशिष्ट व्यक्ति है, जो अपने अनुभवों और विचारोंको उनके पास पहुँचा रहा है। इसमें सोचनेका अपना ढंग है, अभिव्यक्तिकी अपनी शैली है, जीवनके अपने अनुभव हैं। इस दृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होगा कि रेडियो-वार्ता कला और साहित्यसे भिन्न नहीं है, यह भी एक विशेष प्रकारका साहित्य है। साहित्य होता क्या है? प्रसिद्ध फ्रेंच लेखक अर्नेस्ट हिम्लेट उत्तर देंगे—'मैं कहता हूँ, साहित्य आत्माभिव्यक्ति है, और आत्माभिव्यक्ति वैयक्तिकता है।' अपनी विशिष्टताकी खोज निकालना, अपनी विशेष दृष्टिसे किसी वस्तुको देखना और उसे अपने विशेष प्रकारसे अभिव्यक्त करना ही तो साहित्य है। रेडियो वार्ता भी साहित्य ही है, और इसकी विशेषता भी वैयक्तिकताकी अभिव्यक्तिमें है।

इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मुद्रित साहित्यका लेखक जहाँ पूर्णत वस्तुनिष्ठ हो सकता है, वहाँ रेडियो-वार्ताकारको आत्मनिष्ठ रहना पड़ेगा। यह आत्मपरकता ही उसकी विशेषता है। रेडियोका श्रोता वस्तुमें उतनी रुचि नहीं रखता, जितनी वार्ताकारमें। वस्तु तो उसे कहीं भी मिल जा सकती है, लेकिन वार्ताकारकी जीवन-दृष्टि, जिसकी ओर हिल्डा मैथिसनने संकेत किया है, तो वार्ताकारमें ही मिल सकती है। रेडियोका श्रोता रेडियोपर केवल वही वस्तु प्राप्त करना चाहेगा, जो उसे अन्यत्र नहीं मिल सकती। वार्ताकार यदि 'झीलोंके देश : कनाडा' पर वार्ता दे रहा है, तो कनाडाका भौगोलिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिचय तो श्रोताको कुछ पुस्तकोंके पन्ने उलटनेपर सहज ही मिल जा सकता है। रेडियोपर इनके परिचयके प्रसारण एवं श्रवणकी सार्थकता

क्या है ? श्रोता तो वार्ताकारसे यह जानना चाहेगा कि उसने कनाडामें क्या देखा, क्या अनुभव किया। दूसरे शब्दोंमें, श्रोता वार्ताकारकी आँखोंसे कनाडाको देखना चाहेगा। यह वस्तु उसे वार्ताकारको छोड़कर और किसी-से नहीं मिल सकती। इसी प्रकार यदि वार्ताकार पंचवर्षीय योजनामें उद्योगोंकी प्रगतिपर वार्ता दे रहा है, तो प्रगतिका परिचय तो सरकार द्वारा प्रकाशित एवं प्रचारित विज्ञप्तियोंमें श्रोता सरलतासे उपलब्ध कर सकता है, वह तो उद्योगोंके विकासका परिचय वार्ताकारकी दृष्टिसे प्राप्त करना चाहेगा, यह दूसरी बात है कि वार्ताकारको यह परिचय आकाशवाणीकी नीतिकी सीमाओंके भीतरसे ही देना होगा। यहाँ जैनेट डनबरको हम फिर उद्धृत करना चाहेंगे—'अच्छी वार्ताके सम्बन्धमें ध्यान देनेकी बात यह है कि यह तटस्थ और सीधा-सादा विवरण प्रस्तुत करना नहीं है, वार्ताकारकी वैयक्तिकता अवश्य अभिव्यक्त होनी चाहिए।' सचमुच रेडियोपर वार्ता प्रसारित करनेकी सार्थकता इसी बातमें है। यथातथ्य घटनाओंपर आधारित आलेख-रूपकोंकी चर्चा करते हुए एक स्थानपर लुई मैकनीसने कहा है कि रेडियो-रूपककार केवल कैमरामैन या रिपोर्टर नहीं है, वह इनसे कुछ अधिक है, कलाकार है। यही बात रेडियो-वार्ताके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। रेडियो-वार्ताकार पुस्तकोंसे कुछ पन्ने निकालकर केवल पढ़ भर नहीं देता, इधर-उधरसे संकलित सामग्री रेडियोपर केवल प्रसारित भर नहीं कर देता, वह आत्माभिव्यक्ति करता है, अपनी जीवन-दृष्टिसे श्रोताओंको परिचित कराता है, साहित्यकारका काम करता है।

यह साधारण काम नहीं है। साहित्य-सृजनके लिए साहित्यकारको जिस साधना और कल्पनाकी अपेक्षा होती है, उससे कम अपेक्षा रेडियो-वार्ताकारको नहीं है। जैसा कि गैमलिन कहते हैं, 'श्रोताओंके साथ मौलिक आत्मीयता बनाये रखनेके लिए कल्पना और कलात्मकताकी अपेक्षा है।' रेडियो-वार्तामें वैयक्तिकताकी अभिव्यक्तिके लिए अपेक्षित साधना और श्रमकी ओर वार्ताकारोंका ध्यान जाना चाहिए।

यहाँ जो कुछ कहा गया, उससे यह न समझा जाय कि रेडियो-वार्ता केवल आत्मनिष्ठ ही हो सकती है, वस्तुपरक एवं तथ्य-प्रधान नहीं। इस सम्बन्धमें आगे दूसरे अध्यायमें विचार किया जायगा, यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वार्ताएँ तथ्य-प्रधान भी होती हैं और हो सकती हैं, पर उनमें भी वार्ताकारके व्यक्तित्वकी झाँकी तो मिलनी ही चाहिए, और किसी रूपमें न हो सके, तो तथ्योंके प्रस्तुतीकरणमें ही।

श्रोताओंसे आत्मीयता स्थापित करनेके लिए वार्ताकारके व्यक्तित्वमें किन गुणोंकी अपेक्षा होती है, इसपर भी विचार कर लेना चाहिए। एल्वन एन्ड रोगेडियन एलनके अनुसार, 'सफल प्रसारणकी मौलिक अपेक्षा है सचाई।' इसका अर्थ यही है कि वार्ताकार अपनेको बिल्कुल सच्चे रूपमें प्रकट करे, वह अपने श्रोताओंसे दुराव न रखे। जैसा अभी पहले कहा गया है, रेडियो-वार्ताकार भी साहित्यकार है, और साहित्यकारकी सबसे बड़ी विशेषताके बारेमें आचार्य विनोबा भावे कहते हैं—'साहित्यिकोंमें एक मूल-भूत गुण होना चाहिए। उसके बिना कोई साहित्यिक नहीं हो सकता। वह है सिन्सिरिटी यानी सचाई। और गुण हों या न हों, साहित्यिकको सच्चा होना ही चाहिए—वह सच्चा सज्जन हो या सच्चा दुर्जन। सच्चा सज्जन हो, तो लोगोंमें सुगन्ध आ जायेगी। लेकिन दुर्जन हो, तो सच्चा दुर्जन हो। कृत्रिम प्रकार अन्दरसे एक रहने और बाहरसे दूसरे दिखाई देते हैं। वे चाहे दुनियाको ठग लें, परन्तु अपने-आपको ठग नहीं सकते। इसी-लिए अपनेको प्रकट भी नहीं कर सकते।' वार्ताकारको अपनेको प्रकट करना है—अपनेको, यानी अपने पूर्ण व्यक्तित्वको, जो कुछ वह है, जो कुछ वह सोचता है, अनुभव करता है। इसीको लक्ष्य कर कहते हैं, 'मुझे लगता है, व्यक्तित्वका मूल स्वरूप है समझना, अपने पूर्ण अर्थमें, जो हममें वास्तवमें है, उसे समझना और उसका सबसे अच्छे रूपमें उपयोग करना।'

आत्मीयताके लिए दूसरा गुण यह अपेक्षित है कि वार्ताकारके मनमें अपने श्रोताओंके प्रति सद्भाव हो, स्नेह हो। जॉन एच॰ मार्कहमका इस-

ो है : 'अपने श्रोताओंके बारेमें सोचनेकी आदत डालिए।' जो वार्त्ताकार
ताओंके सम्बन्धमें आत्मीयताके साथ सोचेगा, और उसे अपने शब्दों एवं
णी द्वारा प्रकट करेगा, उसके प्रति श्रोताओंका भी आकर्षण रहेगा, इसमें
देह नहीं। 'है दीप दीपसे जलता, है प्रेम प्रेमपर निर्भर'—कविकी इन
क्तियोंमें पर्याप्त सत्य है।

इनके अतिरिक्त वार्त्ताकारके मनमें अपने श्रोताओंके प्रति आदर एवं
मानका भाव भी रहना आवश्यक है। वह इस प्रकार बातें करे कि
ताओंको अपनी हीनताका अनुभव न हो। हम जानते हैं कि कोई भी
ष्य स्वभावतः अपनेको हीन नहीं समझता, अन्य भी अपनेको अन्य
द्वा जानेपर बुरा मानता है। इसीलिए पारस्परिक व्यवहारमें उपदेशा-
कको प्रवृत्ति बहुत घातक समझी जाती है। जानसनने ठीक ही कहा
—'परामर्शका स्वागत शायद ही कभी होता है। जिन्हें सबसे अधिक
की आवश्यकता होती है, वे इसे सबसे कम चाहते हैं।' सचमुच 'मैं जो
नता हूँ, आप नहीं जानते' की प्रवृत्ति रेडियो-श्रोताके मनमें वार्त्ताकारके
ति आत्मीयताका भाव नहीं आने देगी। रेडियो-शिल्पके सभी अनुभवी
वित इस तथ्यको स्वीकार करते हैं। गैमलिन कहते हैं कि 'यह अनुभव
वार्त्ताकार हमें हीन समझकर बातें कर रहा है, श्रोताके मनमें शीघ्र
ऐसी शत्रुताको जन्म देती है, जिसका कोई उत्तर नहीं है।' उदाहरणके
ए एक वार्त्ताका यह पहला वाक्य देखिए—

'बच्चोंके व्यक्तित्वके बारेमें कुछ कहनेसे पहले मैं उन बहिनोंके सन्देह
हटा देना चाहती हूँ, जो यह सोचती हों कि बच्चोंका भी क्या कोई
क्तित्व होता है।'

इसका प्रभाव सुननेवाली बहनोंपर क्या पड़ेगा? वे कहेंगी—'ये
ानेको बहुत समझती है।' इससे वार्त्ताकार और श्रोताओंके बीच
त्मीय सम्बन्ध नहीं स्थापित हो सकता। एक दूसरी वार्त्ताकी कुछ
क्तियाँ देखिए—

'मैं इस तरहके अनेक उदाहरण दे सकता हूँ। इनके द्वारा मैं यही बताना चाहता हूँ कि शरीरमें ग्रन्थियों या और मांसपेशियोंकी क्रिया-प्रतिक्रिया या द्वन्द्वसे ही एक प्रकारकी स्थिरता पैदा होती है।'

वार्त्ताकार कुछ ही देर बाद फिर कहते हैं—

'मैं अधिक-से-अधिक आपको यह समझा सका हूँ कि जितना आप समझते हैं, जीवन उससे कहीं पेचीदा या आश्चर्यपूर्ण है।'

इसके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी आवश्यकता नहीं। हाँ, वार्त्ताकारको इस प्रसंगमें कहना अवश्य है। उसे यह नहीं समझना है कि वह श्रोताओंसे ऊपर, किसी उच्च आसनपर प्रतिष्ठित है। उसे अपनेको श्रोताओंके सामान्य धरातलपर ही रखना है। पहले कहा जा चुका है कि वार्त्ताकारको अपने श्रोताओंमें अधिक ज्ञानका अनुमान नहीं कर लेना चाहिए, इसका यह अर्थ नहीं कि श्रोताओंको ज्ञानहीन ही समझ लेना चाहिए। श्रोताओंके प्रति वार्त्ताकारकी वाणीमें ऐसी भावना कभी नहीं आनी चाहिए कि श्रोता अपनेको श्रेष्ठ समझता है। जे० बी० प्रीस्टलीके सफल रेडियो-वार्त्ता-प्रसारणके सम्बन्धमें एक रेडियो विशेषज्ञ यही कहता है कि 'मालूम होता है, उनके अपने श्रोताओंके प्रति आदर-भाव है, न वे उन्हें हीन समझकर ही बातें करते हैं, न उनमें बहुत अधिक ज्ञानका अनुमान ही करके।'

रेडियो-वार्तासे सम्बन्धित तीन प्रश्न

प्रश्न प्रारम्भ करनेके पहले अपने आकाशवाणीके जीवनका एक अनुभव प्रस्तुत करनेकी इच्छा होती है। इस अनुभवका सम्बन्ध अपनी एक ऐसी गलतीसे है, जिसे मैं आकाशवाणीमें रहता, तो शायद नहीं कहता। रातको ७॥ बजे एक वार्ता होनेवाली थी, विषय था - 'महान् क्रान्तिकारी चिन्तक : आइन्सटाइन। सन्ध्याके ६॥ बज गये, पर वार्ताकारने अपना आलेख मेरे पास नहीं भेजा। मैंने वार्ताकारको फोन किया, तो दूसरे छोरसे आवाज़ आयी—'आज दिनभर मैं बहुत व्यस्त रहा, वार्ता लिखनेकी फुर्सत ही नहीं मिली। अभी वही वार्ता स्टेनोको लिखवा रहा हूँ। वार्ताका समय आधा घण्टा बढ़वा दीजिए, तो बड़ी कृपा होगी। आठ बजे तक वार्ता टाइप होकर तैयार हो जायेगी।' वार्ताकारको आकाशवाणीसे पहली बार वार्ता प्रसारित करनी थी, इसीलिए ऐसा कह रहे थे। मैंने कहा—'आप तो जानते हैं, यहाँका समय बिलकुल निश्चित रहता है, एक मिनट भी इधर-उधर नहीं होता। और, यह वार्ता तो किसी तरह ७॥ बजे होनी ही है—प्रोग्राम-पत्रिका 'आकाशवाणी'में छपी हुई है।' उत्तर आया—'अच्छी बात है, मैं कोशिश करता हूँ।' टेलीफोन रखकर मैं अपनी गलतीपर पछताने लगा कि मैंने वार्ताका आलेख कुछ दिन पहले ही क्यों नहीं मँगा लिया। आलेखको समयसे मँगा लेना मेरा काम था, यो वार्ता प्रसारित करनेके लिए जो आमन्त्रण-पत्र [जिसे अनुबन्ध-पत्र कहा जाता है] वार्ता-

ले चला। रास्तेमें कहता गया—'याद रखिएगा कि आपकी वार्त्ताका प्रभाव मुझपर भी पड़ सकता है।' मैंने उन्हें स्टूडियोमें माइक्रोफोनके सामने बैठा दिया और बतला दिया कि सामनेकी लाल बत्ती जलनेपर वे वार्त्ता प्रारम्भ करेंगे। ७॥ बजे दूसरे स्टूडियोसे एनाउंसरने कहा—'यह आकाशवाणी पटना है। महान् क्रान्तिकारी चिन्तक—इस वार्त्ताक्रममें आज ··· ···· ······आइन्सटाइनके सम्बन्धमें एक वार्त्ता प्रसारित कर रहे हैं। श्री' ···· ···।' मेरा हृदय धड़क रहा था—'कहीं कुछ गड़बड़ी न हो जाय। कहीं यह बोलते-बोलते एकाएक बीचमें ही न रुक जाय। वहीं आकाशवाणीकी नीतिके विरुद्ध कोई विवादास्पद बात न कह दे। मुझे इसे बोलने नहीं देना चाहिए था।' पर वार्त्ताकारको लाल बत्ती मिल चुकी थी, उन्होंने बोलना शुरू कर दिया था—बिलकुल स्वाभाविक वार्त्ता, सीधी-सादी भाषा, नपे-तुले वाक्य, सन्तुलित विचार। मैं तो दंग रह गया। दूसरे दिन लोगोंने कहा—'बहुत दिनोंके बाद अच्छी वार्त्ता सुननेको मिली।' मैं सोचता हूँ, क्या यह वार्त्ता इसीलिए सफल हो सकी कि वार्त्ता-कारके पास वार्त्ताका आलेख नहीं था? रेडियो-वार्त्ता-सम्बन्धी यही पहला प्रश्न है—क्या यह आवश्यक है कि वार्त्ता लिखी जाय, उसका लिखित आलेख हो?

वार्त्ता तो बातचीत है, वार्त्ताकारकी मौखिक अभिव्यक्ति, वार्त्ताकार वार्त्ता प्रसारित करते समय आलेख सामने रखकर भी श्रोताओंको यही आभास देना चाहता है कि वह कोई लिखित रचना पढ़ नहीं रहा है, बल्कि अपने श्रोताओंसे बातें कर रहा है। ऐसी स्थितिमें वार्त्ता लिखनेकी क्या आवश्यकता है? लिखित वार्त्ताका परिणाम भी तो अच्छा नहीं होता; उसमें मौखिक वार्त्ताकी स्वाभाविकता नहीं आ पाती है, वार्त्ता कृत्रिम हो जाती है। इसीलिए पी० पी० एकरस्ले कहते हैं—'मैं सामान्य नियम बनाकर पाण्डुलिपिसे वार्त्ता-पाठका निषेध कर दूँगा। यह नियम कुछ शिक्षित सामाजिक सभाओंके परिसंवादोंमें चलता है और इससे लोग लाभान्वित

देते हैं। नोट्सकी सहायता तब तक लेने दी जाएगी, जब तक वे विचारों-को क्रमबद्ध रखनेमें सहायक हों, और प्रेरणा और सहजताकी हत्या न करें।' एलन एण्ड डोरोथियन एटलका कथन है—'हाउस ऑफ कामन्स-का यह नियम कि लिखित भाषण न दिये जायँ, केवल नोट्ससे सहायता ली जाय, कुछ शिक्षित संस्थाओं द्वारा माना जाता है, और बी० बी० सी० द्वारा भी इसका अनुकरण स्वच्छन्दतासे किया जा सकता है। यद्यपि वार्ताएँ हमेशा निश्चित समय-योजनामें अच्छी तरह नहीं बैठ सकेंगी, और कुछ अधिकारियोंको भी धड़कते हुए हृदयसे उन्हें सुनना रहना पड़ेगा कि वार्ताकार बी० बी० सी० की नीतिके विरुद्ध न कुछ कह दें, पर इससे लाभ बहुत अधिक होगा। रेडियोको उसका एक बड़ा उपहार वापस मिल जायगा, श्रोताओंको कार्यरत मस्तिष्ककी अभिव्यक्ति सुननेका अवसर मिलेगा, और प्रसारणकर्ता अपनी सबसे बड़ी बाधा, आलेखसे मुक्ति पा जायगा।'

बिना आलेखके सफल वार्ता प्रसारित करनेवाले व्यक्तियोंमें प्रेसीडेण्ट रूज़वेल्टकी पत्नी एलिनर रूज़वेल्टका नाम आता है, जिनके सम्बन्धमें जेनेट रसकर कहते हैं—'मैत्रीपूर्ण अनौपचारिक, ध्वनि-ज्ञानसे भरी उनकी वार्ता केवल अपनी विषय-वस्तुकी दृष्टिसे ही नहीं, प्रसारण-शैलीकी दृष्टिसे भी प्रशंसनीय थी। उनका एक निश्चित रूप होता था। वे व्यक्तिगत चर्चासे प्रारम्भ करतीं, अपना कथ्य शुरू करतीं, उसका विकास करतीं, एक निश्चित विचार देकर उसे समेटतीं, और स्वाभाविक समाप्ति पर आ जातीं।' इसी प्रसंगमें वे आगे कहते हैं—'उनकी वार्ताका एक स्थापत्य होता, एक निश्चित संगठन, प्रत्येक विचार अपने पूर्ववर्ती विचारोंमेंसे तर्क-पूर्ण ढंगसे निकलता। उनके शब्द घिसे-पिटे न होनेपर भी सरल होते।'

यह सही है कि बिना आलेखके प्रसारित वार्तामें स्वाभाविकता और अनौपचारिकता रहेगी, पर प्रश्न है कि ऐसे कुशल वार्ताकार कितने मिलेंगे? जिनकी लिखित वार्तामें ही कोई स्थापत्य नहीं होता, उनकी मौखिक वार्ता-

की क्या दशा होगी ? उनकी वार्त्तामें सब-कुछ बिखरा-बिखरा-सा रहेगा, उसमें कोई निश्चित प्रभाव डालनेकी शक्ति नहीं रहेगी। एलिनर रूज़वेल्ट-जैसे नामोंको अपवादमें ही गिनना चाहिए। जिस वार्त्ताकारकी चर्चा शुरूमें की गयी है, वे भी, मैं समझता हूँ, इसीलिए सफल हो सके कि वे अपनी वार्त्ता अपने स्टेनोको लिखवाकर आये थे, फलतः उन्हें अपनी विषय-वस्तुके क्रमिक विकासका ज्ञान था।

दूसरी बात यह भी है कि मौखिक रूपसे वार्त्ता देनेमें वार्त्ताकार पर्याप्त सुनियोजित सामग्री भी नहीं दे सकेगा। बड़े-बड़े भाषणोंको सुनते समय हम यह अनुभव करते हैं कि इसमें आवृत्तियाँ अधिक हैं, अप्रासंगिक बातें बहुत हैं। सामान्य वार्त्ताकारोंकी अलिखित वार्त्तामें भी यही बातें मिलेंगी।

तीसरी कठिनाई अवधि-सम्बन्धी है। रेडियोके कार्यक्रम निश्चित समयके बन्धनोंमें बँधे रहते हैं। वार्त्ताकारके लिए सचमुच यह कठिन समस्या है कि निश्चित अवधिमें अपनी वार्त्ता किस प्रकार समाप्त करे। यह तभी सम्भव हो सकता है, जब वार्त्ताकी सभी बातें निश्चित अनुपातमें रहें। इसके लिए जिस मानसिक अनुशासन एवं सन्तुलनकी अपेक्षा है, उसे अर्जित करना सरल काम नहीं है, सभी ऐसा नहीं कर सकते।

चौथा प्रश्न प्रसारण-संस्थाकी नीतिका है। प्रत्येक प्रसारण-संस्थाकी अपनी नीति होती है, अपनी सीमाएँ होती हैं। आकाशवाणीके साथ भी यही बात है। मौखिक वार्त्तामें यह खतरा हमेशा बना रहेगा कि वार्त्ताकार कहीं ऐसी बातें न कह दे, जिन्हें हम नहीं चाहते।

और, सबसे बड़ा खतरा तो वार्त्ताकारकी घबड़ाहट और भयका है। बहुत ऐसे व्यक्ति हैं, जिन्हें माइक्रोफोनके सामने घबड़ाहटका अनुभव होने लगता है। मैंने स्वयं ऐसे लोगोंको देखा है, जिन्हें स्टूडियोमें बोलते-बोलते पसीना हो आया है। ऐसे व्यक्तियोंसे मौखिक वार्त्ता करानेका अर्थ है उनके सम्मान और अपने कार्यक्रमको खतरेमें डालना।

इन सभी बातोंको देखते हुए वार्त्ताके लिए आलेखकी आवश्यकताको

सहज ही समझा जा सकता है। इनबर-जैसे प्रमाणकर्त्ता एवं विशेषज्ञ आलेखको आवश्यक मानते हैं।

अब हम दूसरे प्रश्नपर आयें। आकाशवाणी केन्द्रोंसे बहुधा यह सुना जाता है—'अभी ··· ······· ···   ··की लिखी हुई वार्त्ता पढ़कर सुनायी गयी।' तात्पर्य यह कि वार्त्ताका लेखक एक व्यक्ति, और उसे पढ़नेवाला दूसरा व्यक्ति, जो या तो कोई एनाउन्सर होता है या रेडियो स्टेशनका कोई कलाकार। विचारणीय यह है कि क्या एक व्यक्तिकी वार्त्ताको दूसरे किसीसे पढ़वा देना उचित है?

पहले हम यह देख लें कि ऐसा होता क्यों है? पहला कारण तो यह है कि वार्त्ताकार किसी आकस्मिक घटना या अस्वस्थताके कारण समयपर उपस्थित नहीं हो पाता। दूसरा कारण यह होता है कि आकाशवाणीके अधिकारी किसी वार्त्ताको महत्त्वपूर्ण समझते हैं, और उसे विभिन्न केन्द्रोंसे स्थानीय एनाउन्सरों द्वारा पुन. प्रसारित कराते हैं। अंग्रेजी वार्त्ताओंके अनुवाद भी बहुधा इसी प्रकार प्रसारित कराये जाते हैं। तीसरा कारण हो सकता है—वार्त्ताकारकी शारीरिक असमर्थता। हो सकता है, कोई विशेषज्ञ बोलनेमें असमर्थ हो अथवा उसकी बोलीमें हकलाहट आदिके दोष हों।

अब मूल प्रश्नपर विचार किया जाय। जैसा अबतक बार-बार कहा गया है, वार्त्ता लिखित होती हुई भी मौखिक समझी जाती है। वार्त्ताकारकी सफलता इसी बातमें है कि वह श्रोताओंको अपनी लिखित रचनाका आभास भी न मिलने दे। अब जब हम सुनते हैं—'अभी यह वार्त्ता पढ़कर सुनायी गयी', तो हमें लगता है, जैसे वार्त्ता-प्रसारणकी कलाके मूलपर ही आघात किया जा रहा है।

एनाउन्सरकी यह सूचना कि 'वार्त्ता पढ़ी जा रही है', हमें स्पष्ट सूचित कर देती है कि वार्त्ताका आलेख भी है, और इसमे वार्त्ताका आकर्षण कम हो जाता है। किसी सभामें वक्ताको अपना लिखित भाषण पढ़ते देखकर या नोट्सके सहारे बोलते देखकर हमारे मनमें बात उत्पन्न होती

है ? डेल कार्नेगी इसे प्रश्नोमें अभिव्यक्त करते हैं—'क्या नोट्स भाषणमें आपका आकर्षण पचास प्रतिशत कम नही कर देते ? वक्ता और श्रोताके बीच जो आत्मीय और मूल्यवान् सम्बन्ध रहना चाहिए, क्या वे उसे रोक नही लेते अथवा उसका बना रहना कठिन नही कर देते ? क्या वे कृत्रिमता का वातावरण नही उत्पन्न करते ? क्या वे दर्शकोको यह अनुभव होनेसे नही रोकते कि वक्ताके पास जो विश्वास और शक्ति चाहिए, वह उसके पास है ?' ठीक यही बातें लिखित वार्त्ताके पाठके सम्बन्धमें कही जा सकती है ।

यह जानकर कि वार्त्ता लिखित है, मनमे यह भाव भी आता है कि वार्त्ता अच्छी होगी, तो 'सारग', 'प्रसारिका' या किसी पत्रमें हो, छपेगी, और उसे वही पढ लिया जायगा । यह भाव भी वार्त्ताके आकर्षणको कम ही करता है ।

इस सम्बन्धमे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही जायगी कि रेडियो-वार्त्ता, जैसा कि हम पहले देख चुके है, कोई तटस्थ वस्तुनिष्ठ कृति नही है कि उसका पाठ कोई भी कर दे । उसका सम्बन्ध वार्त्ताकारके व्यक्तित्वसे होता है । एक व्यक्तिकी वार्त्ता जब दूसरा व्यक्ति पढता है, तो हम वार्त्ताकारके व्यक्तित्वके प्रत्यक्ष सम्पर्कमे आनेसे वंचित रह जाते है । इस सम्बन्धमे एक रेडियो-विशेषज्ञने प्रसिद्ध डेनिश फिल्म डाइरेक्टर कार्ल ड्रेयरकी एक वार्त्ताका बडा मनोरजक उदाहरण प्रस्तुत किया है । कार्ल ड्रेयरने अपने उद्देश्योके सम्बन्धमे बी० बी० सी० के लिए एक वार्त्ता लिखी । एक एनाउन्सरने उसे पढकर सुनाना शुरू किया, जो थोड़ा-बहुत आकर्षक रहा । अन्तिम कुछ मिनटोके लिए ड्रेयरने अपनी वार्त्ता खुद पढी । एनाउन्सर और उसके पढनेमें आश्चर्यजनक अन्तर रहा । वार्त्ता सजीव हो उठी, लगा कि उसके पीछे एक व्यक्तित्व आ गया, जो अपने विचारोको सोचता है, और उन्हें अभिव्यक्त करता है । ड्रेयरकी

अंग्रेजी टूटी-फूटी थी, कहीं-कहीं उसका समझना भी कठिन था, फिर भी वार्तामें अद्भुत आकर्षण आ गया। इस उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है कि रेडियो-वार्तामें महत्त्व स्वयं वार्ताका नहीं, उसके वार्ताकारके व्यक्तित्वका होता है। यहीं एक बात और कह दी जाय। कुछ लोग कहते हैं कि हमारे यहाँ कि वार्ताएँ इसलिए नीरस होती हैं कि वार्ताकार उन्हें आकर्षक ढंगसे पढ़ते नहीं, इसलिए उन्हें एनाउन्सरों, कलाकारोंके सुसंस्कृत स्वरोंसे पढ़वाना चाहिए। यह कहना उचित नहीं। ड्रेयरके उदाहरणसे ही यह स्पष्ट है कि वार्तामें स्वर और भाषाका उतना महत्त्व नहीं, जितना व्यक्तित्वका है। हमारे यहाँकी वार्ताकी नीरसताका कारण यह है कि यहाँ व्यक्तित्वके पक्ष-पर ध्यान दिया ही नहीं जाता। वार्ताकी नीरसताके दूसरे कारणोंकी चर्चा हम पहले अध्यायमें कर आये हैं।

अब तीसरा प्रश्न। कहा जाता है, एक व्यक्ति जो वार्ता अकेले प्रसारित करता है, वह नीरस होती है, इसलिए कई व्यक्तियोंके सहयोगसे वार्ताको आकर्षक रूपमें प्रस्तुत करना चाहिए। एक व्यक्तिकी वार्ताको हम प्रत्यक्ष वार्ता कह सकते हैं। अंग्रेजीमें इसे 'स्ट्रेट टॉक [Straight Talk] कहते हैं। अनेक व्यक्तियोंके सहयोगसे प्रसारित वार्ताको भेंट-वार्ता [Interview], परिसंवाद [Symposium] आदि कहते हैं। भेंट-वार्तामें प्रश्नकर्त्ता वार्ताकारसे प्रश्न पूछता जाता है, और वार्ताकार प्रश्नोंके उत्तर देता है। परिसंवादमें कई व्यक्ति एक ही विषयपर अपने विचार प्रकट करते हैं। प्रश्न यह है कि रेडियो-माध्यमके लिए उपयुक्त क्या है : प्रत्यक्ष वार्ता या भेंट-वार्ता अथवा परिसंवाद ?

इस सम्बन्धमें स्मरण रखनेकी बात यह है कि रेडियो सामूहिक प्रेषणीयताका साधन है—प्रत्यक्ष साधन, जिसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। इसके माध्यमसे एक व्यक्ति अपनेसे दूर रहनेवाले हजारों श्रोताओंसे प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकता है। रेडियो माध्यमकी सबसे बड़ी देन यही है। इसमें वक्ता-श्रोताका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। लेकिन इसके

है ? डेल कार्नेगी इसे प्रश्नोंमें अभिव्यक्त करते हैं—'क्या नोट्स भाषणमें आपका आकर्षण पचास प्रतिशत कम नहीं कर देते ? वक्ता और श्रोताके बीच जो आत्मीय और मूल्यवान् सम्बन्ध रहना चाहिए, क्या वे उसे रोक नहीं लेते अथवा उसका बना रहना कठिन नहीं कर देते ? क्या वे कृत्रिमता का वातावरण नहीं उत्पन्न करते ? क्या वे दर्शकोंको यह अनुभव होनेसे नहीं रोकते कि वक्ताके पास जो विश्वास और शक्ति चाहिए, वह उसके पास है ?' ठीक यही बातें लिखित वार्ताके पाठके सम्बन्धमें कही जा सकती हैं।

यह जानकर कि वार्ता लिखित है, मनमें यह भाव भी आता है कि वार्ता अच्छी होगी, तो 'सारग', 'प्रसारिका' या किसी पत्रमें हो, छपेगी, और उसे वहीं पढ लिया जायगा। यह भाव भी वार्ताके आकर्षणको कम ही करता है।

इस सम्बन्धमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही जायगी कि रेडियो-वार्ता, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, कोई तटस्थ वस्तुनिष्ठ कृति नहीं है कि उसका पाठ कोई भी कर दे। उसका सम्बन्ध वार्ताकारके व्यक्तित्वसे होता है। एक व्यक्तिकी वार्ता जब दूसरा व्यक्ति पढ़ता है, तो हम वार्ताकारके व्यक्तित्वके प्रत्यक्ष सम्पर्कमें आनेसे वंचित रह जाते हैं। इस सम्बन्धमें एक रेडियो-विशेषज्ञने प्रसिद्ध डेनिश फिल्म डाइरेक्टर कार्ल ड्रेयरकी एक वार्ताका बड़ा मनोरंजक उदाहरण प्रस्तुत किया है। कार्ल ड्रेयरने अपने उद्देश्योंके सम्बन्धमें बी० बी० सी० के लिए एक वार्ता लिखी। एक एनाउन्सरने उसे पढकर सुनाना शुरू किया, जो थोड़ा-बहुत आकर्षक रहा। अन्तिम कुछ मिनटोंके लिए ड्रेयरने अपनी वार्ता खुद पढी। एनाउन्सर और उसके पढ़नेमें आश्चर्यजनक अन्तर रहा। वार्ता सजीव हो उठी, लगा कि उसके पीछे एक व्यक्तित्व आ गया, जो अपने विचारोंको सोचता है, और उन्हें अभिव्यक्त करता है। ड्रेयरकी

अंग्रेजी टूटी-फूटी थी, कहीं-कहीं उसका समझना भी कठिन था, फिर भी वार्त्तामें अद्भुत आकर्षण आ गया। इस उदाहरणसे स्पष्ट हो जाता है कि रेडियो-वार्त्तामें महत्त्व स्वयं वार्त्ताका नहीं, उसके वार्त्ताकारके व्यक्तित्वका होता है। यहीं एक बात और कह दी जाय। कुछ लोग कहते हैं कि हमारे यहाँ कि वार्त्ताएँ इसलिए नीरस होती है कि वार्त्ताकार उन्हें आकर्षक ढंगसे पढ़ते नहीं, इसलिए उन्हें एनाउन्सरों, कलाकारोंके सुमधुर स्वरोंसे पढ़वाना चाहिए। यह कहना उचित नहीं। ड्रेयरके उदाहरणसे ही यह स्पष्ट है कि वार्त्तामें स्वर और भाषाका उतना महत्त्व नहीं, जितना व्यक्तित्वका है। हमारे यहाँकी वार्त्ताकी नीरसताका कारण यह है कि यहाँ व्यक्तित्वके पक्ष-पर ध्यान दिया ही नहीं जाता। वार्त्ताकी नीरसताके दूसरे कारणोंकी चर्चा हम पहले अध्यायमें कर आये हैं।

अब तीसरा प्रश्न। कहा जाता है, एक व्यक्ति जो वार्त्ता अकेले प्रसारित करता है, वह नीरस होती है, इसलिए कई व्यक्तियोंके सहयोगसे वार्त्ताको आकर्षक रूपमें प्रस्तुत करना चाहिए। एक व्यक्तिकी वार्त्ताको हम प्रत्यक्ष वार्त्ता कह सकते हैं। अंग्रेजीमें इसे 'स्ट्रेट टॉक' [Straight Talk] कहते हैं। अनेक व्यक्तियोंके सहयोगसे प्रसारित वार्त्ताएँ भेंट-वार्त्ता [Interview], परिसंवाद [Symposium] आदि कहते हैं। भेंट-वार्त्तामें प्रश्नकर्त्ता वार्त्ताकारसे प्रश्न पूछता जाता है और वार्त्ताकार प्रश्नोंके उत्तर देता है। परिसंवादमें कई व्यक्ति एक ही विषयपर अपने विचार प्रकट करते हैं। प्रश्न यह है कि रेडियो-माध्यमके लिए उपयुक्त क्या है : प्रत्यक्ष वार्त्ता या भेंट-वार्त्ता अथवा परिसंवाद ?

इस सम्बन्धमें स्मरण रखनेकी बात यह है कि रेडियो [illegible] प्रस-णीयताका साधन है—प्रत्यक्ष साधन, जिसका परिचय हम पहले दे चुके हैं। इसके माध्यमसे एक व्यक्ति अपनेसे दूर रहनेवाले हजारों व्यक्तियोंसे प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित कर सकता है। रेडियो माध्यमकी सबसे बड़ी देन यही है। इसमें वक्ता-श्रोताका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहता है। लेकिन इसके

विपरीत अप्रत्यक्ष वार्त्ताओं [भेंट-वार्त्ता आदि] में वार्त्ताकार एवं श्रोताओं-का प्रत्यक्ष सम्बन्ध खण्डित हो जाता है, इनमें वार्त्ताकार एवं श्रोताओंके बीचमें कई अन्य व्यक्ति आ जाते हैं, इनमें वार्त्ताकार अपने श्रोताओंसे सीधे कुछ नहीं कहता, बल्कि प्रश्नकर्त्ताओंके माध्यमसे कहता है। इस दृष्टिसे लगता है कि रेडियो-माध्यमके लिए यदि सबसे उपयुक्त साहित्य-रूप कोई है, तो वह प्रत्यक्ष रेडियो-वार्त्ता ही।

०

रेडियो-वार्त्ता-लेखनकी तैयारी

प्रसिद्ध वक्ता बूढ़े विन्स्टनसे किसीने पूछा—'आप अपने १० मिनटके भाषणकी तैयारी कितने समयमें करते हैं ?' विन्स्टनने कहा—'दो सप्ताह।' प्रश्नकर्त्ताका प्रश्न हुआ—'और, एक घण्टेके भाषणकी तैयारीमें कितना समय लगाते हैं ?' उत्तर मिला—'एक सप्ताह।' प्रश्नकर्त्ताकी जिज्ञासा शान्त नहीं हुई, उन्होंने फिर पूछा—'दो घण्टेके भाषणके लिए आपको कितना समय चाहिए ?' 'उसके लिए तो मैं हर समय तैयार रहता हूँ।'—विन्स्टनका उत्तर था। ये उत्तर मजाक-जैसे लग सकते हैं, पर हैं नहीं। गम्भीरतासे सोचनेपर ज्ञात होगा कि कम अवधिमें अपने वक्तव्यको अभिव्यक्त कर देना सचमुच ही बहुत कठिन काम है। बड़े भाषणोंमें अनावश्यक विस्तार एवं आवृत्तियोंके लिए अवकाश हो सकता है, छोटे भाषणोंमें नहीं। इसीलिए कम अवधिके भाषणोंके लिए पर्याप्त तैयारीकी आवश्यकता होती है। रेडियो-वार्त्ताओंकी अवधि भी सीमित ही होती है—पाँच मिनटसे लेकर बीस मिनटतक,अधिक वार्त्ताओंकी अवधि दस मिनट होती है। एक दस मिनट-की वार्त्ता लिखना शुरू करनेके पहले वार्त्ताकारको काफी तैयारीकी अपेक्षा होती है। इस तैयारीका क्या तात्पर्य है,इसकी व्याख्या हम बादमें करेंगे,पहले विषयके सम्बन्धमें विचार कर लिया जाय। जिन व्यक्तियोंको विषय विशेष-पर वार्त्ता देनेके लिए आकाशवाणी द्वारा आमन्त्रित किया जाता है, उनकी तैयारी तो उसके बाद ही शुरू होती है, उन्हें विषयके लिए चिन्ता करने-

की जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन जो व्यक्ति आमन्त्रित नहीं किये जाते, फिर भी यह अनुभव करते हैं कि उनमें रेडियो-वार्ताके लेखन एवं प्रसारणकी क्षमता है, उनकी तैयारी विषयके चुनावसे ही शुरू होती है।

प्रश्न यह है कि रेडियो-वार्ताके लिए कैसे विषय अधिक उपयुक्त होते हैं? आकाशवाणीमें समय-समयपर प्रसारित कुछ वार्त्ताओंके विषय देखे जायँ—'भारतकी पुरानी राजनीति', 'कलामें नैतिकता-अनैतिकताका प्रश्न,' 'दो चीनी यात्री','महायानमें विज्ञानवाद,' 'कश्मीरका सौन्दर्य,' 'महात्माजीके संस्मरण,' 'पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा,' 'खादकी उपयोगिता,' 'जापानी खेतीके तीन तरीके,' 'विदेश-यात्राके मेरे अनुभव।' इन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दुनियाका कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिसपर वार्त्ता न प्रसारित की जा सके, पर ऐसा अनुमान करते समय आकाशवाणीके भूतपूर्व डायरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स सोमनाथ चिब्बरका यह कथन स्मरण रखना चाहिए कि 'जिन विषयोंपर [आकाशवाणीके] वार्ताकार लिखना सरल समझते हैं, वे वार्त्ताकी अपेक्षा निबन्ध-लेखनके अधिक उपयुक्त प्रकारके होते हैं।' सचमुच जो विषय ऊपर दिये गये हैं, वे सभी रेडियो-वार्त्ताके उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। अब तक जो विवेचन हो चुका है, उससे स्पष्ट है कि रेडियो वैयक्तिकताकी अभिव्यक्तिका सबसे सुन्दर माध्यम है। फलतः जिन विषयोंमें वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति अधिकसे अधिक हो सके, जिनमें आत्मिक अनुभवों एवं आत्मपरकताको व्यक्त करनेके लिए अधिक अवकाश रहे, वे अन्यान्य विषयोंकी अपेक्षा निश्चय ही रेडियोके अधिक उपयुक्त कहे जायँगे। वार्त्ताकारके पास यदि कुछ ऐसे अनुभव हैं, जो सबके लिए रुचिकर हो सकते हैं, यात्राके ऐसे संस्मरण हों, जिनमें उसने स्थान-विशेषके सौन्दर्यको अपनी आँखोंसे देखा हो, वहाँके लोगोंकी रहन-सहनका अपनी दृष्टिसे अध्ययन किया हो, ऐसे विषय हों, [illegible] उसने अपनी दृष्टिसे विचार किया हो, तो उन्हें वह अपनी वार्त्ताका [illegible] बना सकता है। व्यक्तिगत दृष्टिवाली वार्त्ताएँ अधिक लोगोंको अपनी

ओर आकृष्ट कर सकेंगी, इसमें सन्देह नहीं। जैनेट डनबरने ठीक ही कहा है—'सच्ची व्यक्तिगत वार्त्ता अधिक श्रोताओंको रुचिकर होती है, क्योंकि वह आत्मनिष्ठ होकर दी जाती है, और उसमें वैयक्तिक रंग अधिक रहता है।' वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ, इन दोनों प्रकारकी वार्त्ताओंमें किसमें अधिक रोचकता होती है, इसको हालके दो वार्त्ताओंके कुछ प्रारम्भिक वाक्योंमें मिल जा सकती है। पहली वार्त्ताका शीर्षक है 'कवि-सम्मेलन और मुशायरे', जिसमें वार्त्ताकार तटस्थ भावसे प्रारम्भ करता है—

'छापेखानेने करोड़ों आदमियोंके लिए यह मुमकिन बना दिया है कि नस्र और नज़्म तनहाईमें चुपचाप पढ़ते रहें, लेकिन अदबका एक खास असर उस वक्त भी पड़ता है, जब कई लोग, जिनकी तादाद सैकड़ोंसे लेकर हज़ारों तक पहुँच जाती है, एक जगह आकर मिल बैठें और अदबको बजाय चुपचाप अकेले पढ़नेके अदीबके मुँहसे उसे सुनें। इस तरह पूरे मजमेमें एक फ़िज़ा पैदा हो जाती है और एक समाँ बँध जाता है। इसीलिए हमारी समाजी ज़िन्दगीमें अदबी कल्चरको फैलाने और सँवारनेमें मुशायरों और कवि-सम्मेलनोंका बहुत बड़ा हिस्सा रहा है।'

[रेडियो-संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

दूसरी वार्त्ताका शीर्षक है 'कवि-सम्मेलनोंके कड़ुए मीठे अनुभव', जिसमें एक आत्मनिष्ठ कवि प्रारम्भ करता है—

की जरूरत नहीं पड़ती। लेकिन जो व्यक्ति आमन्त्रित नहीं किये जाते, फिर भी यह अनुभव करते हैं कि उनमें रेडियो-वार्त्ताके लेखन एवं प्रसारण-की क्षमता है, उनकी तैयारी विषयके चुनावसे ही शुरू होती है।

प्रश्न यह है कि रेडियो-वार्त्ताके लिए कैसे विषय अधिक उपयुक्त होते हैं? आकाशवाणीसे समय-समयपर प्रसारित कुछ वार्त्ताओंके विषय देखे जायँ—'भारतकी पुरानी राजनीति', 'कलामें नैतिकता-अनैतिकताका प्रश्न,' 'दो चीनी यात्री', 'महायानमें विज्ञानवाद,' 'कश्मीरका सौन्दर्य,' 'महात्माजी-के संस्मरण,' 'पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा,' 'खादकी उपयोगिता,' 'जापानी खेतीके तीन तरीके,' 'विदेश-यात्राके मेरे अनुभव।' इन्हें देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि दुनियाका कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जिसपर वार्त्ता न प्रसारित की जा सके, पर ऐसा अनुमान करते समय आकाशवाणीके भूतपूर्व डायरेक्टर ऑफ प्रोग्राम्स सोमनाथ चिबका यह कथन स्मरण रखना चाहिए कि 'जिन विषयोंपर [आकाशवाणीके] वार्त्ताकार लिखना सरल समझते हैं, वे वार्त्ताकी अपेक्षा निबन्ध-लेखनके अधिक उपयुक्त प्रकारके होते हैं।' सचमुच जो विषय ऊपर दिये गये हैं, वे सभी रेडियो-वार्त्ताके उपयुक्त नहीं कहे जा सकते। अब तक जो विवेचन हो चुका है, उससे स्पष्ट है कि रेडियो वैयक्तिकताकी अभिव्यक्तिका सबसे सुन्दर माध्यम है। फलतः जिन विषयोंमें वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति अधिक-से अधिक हो सके, जिनमें आत्मिक अनुभवों एवं आत्मपरकताको व्यक्त करनेके लिए अधिक अवकाश रहे, वे अन्यान्य विषयोंकी अपेक्षा निश्चय ही रेडियोके अधिक उपयुक्त कहे जायँगे। वार्त्ताकारके पास यदि कुछ ऐसे अनुभव हैं, जो सबके लिए रुचिकर हो सकते हैं, यात्राके ऐसे संस्मरण हों, जिनमें उसने स्थान-विशेषके सौन्दर्यको अपनी आँखोंसे देखा हो, वहाँके लोगोंकी रहन-सहनका अपनी दृष्टिसे अध्ययन किया हो; ऐसे विषय हों, जिनपर उसने अपनी दृष्टिसे विचार किया हो, तो उन्हें वह अपनी वार्त्ताका विषय बना सकता है ~ दृष्टिवाली वार्त्ताएँ अधिक लोगोंको अपनी

और आकृष्ट कर सकेंगी, इसमें सन्देह नहीं। जैनेट डनकरने ठीक ही कहा है—'सच्ची व्यक्तिगत वार्त्ता अधिक श्रोताओंको रुचिकर होती है, क्योंकि वह आत्मनिष्ठ होकर दी जाती है, और उसमें वैयक्तिक रंग अधिक रहता है।' वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ, इन दोनों प्रकारकी वार्त्ताओंमें किसमें अधिक रोचकता होती है, इसकी झलक दो वार्त्ताओंके कुछ प्रारम्भिक वाक्योंसे मिल जा सकती है। पहली वार्त्ताका शीर्षक है 'कवि-सम्मेलन और मुशायरे', जिसमें वार्त्ताकार तटस्थ भावसे प्रारम्भ करता है—

'छापेखानेने करोड़ों आदमियोंके लिए यह मुमकिन बना दिया है कि नस्र और नज्म तनहाईमें चुपचाप पढ़ते रहें, लेकिन अदबका एक खास असर उस वक्त भी पड़ता है, जब कई लोग, जिनकी तादाद सैकड़ोंसे लेकर हज़ारों तक पहुँच जाती है, एक जगह आकर मिल बैठें और अदबको बजाय चुपचाप अकेले पढ़नेके अदीबके मुँहसे उसे सुनें। इस तरह पूरे मजमेमें एक फिज़ा पैदा हो जाती है और एक समाँ बँध जाता है। इसीलिए हमारी समाजी जिन्दगीमें अदबी कल्चरको फैलाने और सँवारनेमें मुशायरों और कवि-सम्मेलनोंका बहुत बड़ा हिस्सा रहा है।'

[रेडियो-संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

इन बातोंसे यह न समझा जाय कि तथ्यप्रधान सूचनात्मक एवं शिक्षात्मक वार्ताओंका कोई महत्त्व ही नहीं है; अपने स्थानपर उनका भी महत्त्व है। बहुत-से ऐसे विषय हैं, जिनकी केवल सूचनाओंमें भी श्रोताओंकी रुचि होती है। ऐसा नहीं होता, तो रेडियोसे कोई समाचार क्यों सुनता? रूसने जब अन्तरिक्षमें अपना राकेट छोड़ा, तो लोगोंमें उसके प्रति काफी अभिरुचि थी, लोग जानना चाहते थे कि पृथ्वीकी आकर्षण-शक्तिकी सीमाके बाहर रूसी राकेट कैसे जा सका? दूसरे ग्रहोंपर पहुँचनेकी क्या सम्भावनाएँ हैं? ऐसे अनेक तथ्यप्रधान विषय हैं, जिनमें श्रोताओंकी दिलचस्पी हो सकती है। ग्रामीण श्रोता यह जानना चाह सकते हैं कि खेतोंकी उपज किस प्रकार बढ़ सकती है, जापानी तरीका क्या है, उससे क्या लाभ हो सकते हैं। ऐसे तथ्यप्रधान सूचनात्मक विषय भी रेडियो-वार्ताके लिए चुने जा सकते हैं।

वार्ताके विषयका चुनाव करते समय वार्ताकारको एक और महत्त्वपूर्ण बातपर ध्यान रखना पड़ता है—वह किसके लिए वार्ता प्रसारित करनेकी सोच रहा है? कौन-सा वर्ग उसकी वार्ता सुनेगा? उसकी वार्ता सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए होगी अथवा अशिक्षित ग्रामीण श्रोताओंके लिए? महिला श्रोताओंके लिए या बच्चोंके लिए? स्कूलके छात्रोंके लिए या कालेजके युवकोंके लिए? इन सभी वर्गोंकी अपनी-अपनी विशेषताएँ होती हैं, इनकी अपनी-अपनी अभिरुचि होती है। एक ही वार्ता सभी वर्गोंके लिए नहीं हो सकती। 'कलामें नैतिकता-अनैतिकताके प्रश्न' पर कोई वार्ता ग्रामीण श्रोताओंके लिए नहीं प्रसारित की जा सकती। इसी प्रकार 'विज्ञानवाद'पर कोई वार्ता न बच्चोंके कार्यक्रममें जा सकती है, न स्कूलोंके ही। विषयका चुनाव श्रोता-वर्गके मनोविज्ञान, अभिरुचि आदिके आधारपर ही हो सकता है। वार्ताकारको सोचना पड़ेगा कि वह जिस वर्गके लिए वार्ता देना चाहता है, उसकी रुचि किन विषयोंमें हो सकती है। उदाहरण-के लिए, महिला-श्रोताओंकी रुचि विशेषतः अपनी घर-गृहस्थी, परिवार,

दैनिक उपयोगके कामों आदिमें होती है। इसी प्रकार बच्चोंकी रुचि भी देखी जा सकती है। उनकी रुचि किन विषयोंमें होती है? इसपर कहते हैं—'मैं समझता हूँ, उनकी रुचि लोगों और पशुओंके विषयमें होती है। वे वस्तुओंका वर्णन तब तक नहीं सुनना चाहते, जब तक उनका घनिष्ठ सम्बन्ध लोगों और पशुओंसे न हो। इसके साथ ही वे व्यक्तिगत साहसिक कार्यों, अपनी पसन्दकी वस्तुओं और व्यावहारिक उपयोगवाले विज्ञान-सम्बन्धी सभी विषयोंको चाहते हैं।' वार्ताकारको इन सभी बातोंका ध्यान रखना पड़ता है।

आकाशवाणीके किसी केन्द्रके लिए वार्ता लिखते समय वार्ताकारको आकाशवाणीकी सीमाओंसे भी परिचित रहना आवश्यक है। सभी प्रसारण केन्द्रोंकी अपनी नीतिगत सीमाएँ होती हैं, आकाशवाणीकी भी हैं। आकाशवाणीमें राजनीतिक, धार्मिक आदि विवादास्पद विषयोंके लिए स्थान नहीं है। इससे प्रसारित होनेवाली वार्ताको किसी भी ऐसे अंशसे बचना होता है, जिसमें किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय, धर्म, संस्था, मत आदिपर किसी भी प्रकारसे आक्षेप किया गया हो।

विषय निश्चित हो जानेके बाद ही वार्ता-लेखनकी तैयारी शुरू होती है। इस दिशामें पहला काम है सामग्री-संकलन। वार्ताकारके पास अपनी वार्ताके लिए पर्याप्त सामग्रीका रहना अत्यावश्यक है। उसके अभावमें सफल वार्ताकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। यह सही है कि रेडियो-वार्ताकी सीमित अवधिमें बहुत अधिक सामग्री प्रस्तुत नहीं की जा सकती, रेडियो-वार्ताकारसे उसकी अपेक्षा भी नहीं की जा सकती, पर उससे जो अपेक्षा की जाती है, वह सामग्रीकी सम्पन्नतापर ही निर्भर है। जब हाथमें पर्याप्त सामग्री रहे, तभी उसमेंसे अपने उपयोगके तथ्य चुने जा सकते हैं, और उनके आधारपर अपना दृष्टिकोण निश्चित किया जा सकता है। इसीलिए सभी रेडि [illegible] विशेषज्ञ अधिक सामग्री जुटानेपर जोर देते हैं। जिन [illegible] के लिए आमन्त्रित किया जाता है, वे

सामान्यत. अपने विषयके विशेषज्ञ होते हैं; उनके पास सामग्रीकी कमी नही रहती। लेकिन जो विशेषज्ञ नही हैं, उन्हे पुस्तक आदिकी शरण लेनी पड़ती है।

तथ्यप्रधान वार्त्ताओमे विभिन्न दृष्टिकोणोसे सामग्रीका संकलन अपेक्षित है। विभिन्न विद्वान् विषय-विशेषके सम्बन्धमें क्या विचार रखते है, यह जानना भी उचित है। तथ्य बिलकुल प्रामाणिक हों, जिससे श्रोताओको उनमे किसी प्रकारके सन्देहके लिए अवकाश न रहे। वार्त्तामे यदि उद्धरण दिये जायँ, तो वे भी पूर्णत: शुद्ध और प्रामाणिक हों। रेडियो-वार्त्ताओंमें इन बातोपर विशेष ध्यान होता है।

तथ्य-सग्रह वार्त्ता-लेखनकी दिशामें केवल एक कदम है, वास्तविक तैयारी तो इसके बाद शुरू होती है। यह पहले कहा जा चुका है कि रेडियो-श्रोता केवल तथ्य और आँकड़े नही चाहता, वह अपने वार्त्ताकारसे इनसे कुछ अधिक चाहता है, वह कुछ ऐसी वस्तु चाहता है, जो उसे कही भी लिखित रूपमे उपलब्ध न हो सके। वह लेखकका दृष्टिकोण चाहता है, वह वार्त्ताकारका व्यक्तित्व चाहता है, और इसे ढूँढने और देनेका प्रयत्न करना ही वास्तविक तैयारी है। इसके लिए चिन्तन-मननकी आवश्यकता होती है। सफल रेडियो-वार्त्ताकारोके अध्ययनके आधारपर जैनेट डनवर कहते हैं कि 'उनमें दो बातें बहुत ही स्पष्ट रूपमें दिखायी पड़ती हैं। उनमें वह अव्याख्येय वैयक्तिक गुण प्रचुर मात्रामें रहता है, जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं। लेकिन उनमें इससे कुछ अधिक भी होता है। यदि आप उनकी वार्त्ताओंको आलोचककी तरह सुनें, तो आप पायेंगे कि उन्होने अपने आलेखकी रूप-रेखाके बारेमे सोचनेमे काफी सावधानी बरती है।' यही सोचना वास्तविक तैयारी है। डेल कार्नेगी भाषणकी तैयारीके सम्बन्धमें लिखते हैं—'तैयारीका अर्थ है–सोचना, चिन्तन करना, जो विचार आपको सबसे अधिक आकृष्ट करते हैं, उनका चुनाव करना, उन्हें चमकाना, उन्हें एक निश्चित योजनामे रखना।' इसके बिना कोई भी वार्त्ता चाहे वह किसी भी

उद्देश्य श्रोताओंका मनोरंजन करना है; यदि वह पंचवर्षीय योजनाओंमें कृषिके विकासपर वार्ता दे रहा है, तो वह श्रोताओंको योजनामें हुई प्रगतिसे प्रभावित करना चाहता है; यदि वह विज्ञानवादपर बोल रहा है, तो वह एक कठिन विषयको लोगोंको समझाना चाहता है; यदि वह जापानी खेतीके तरीकेकी उपयोगितापर वार्त्ता दे रहा है, तो वह चाहता है कि श्रोता इस दिशामें सक्रिय बने, इस तरीकेको अपनायें। कई उद्देश्य एक-दूसरेसे परस्पर सम्बद्ध भी हो सकते हैं। वार्त्ताकारको अपने उद्देश्यसे परिचित रहना आवश्यक है, क्योंकि उसीके अनुसार उसकी वार्त्ताकी रूप-रेखा बनेगी।

वार्त्ताकी रूप-रेखा किस प्रकार बने, इसके लिए जान एस० कार्लाइल वार्त्ताकारोंको परामर्श देते हैं :

'आप अपनेसे चार प्रश्न पूछिए और उनके स्पष्ट उत्तर दीजिए : [१] मेरे भाषणका कथ्य क्या है ? [२] अपने भाषणसे मैं अपने श्रोताओंमें ठीक कौन-से भाव जगाना चाहता हूँ ? [३] मैं अपने भाषणसे श्रोताओंको किस दिशामें सक्रिय करना चाहता हूँ ? [४] जो सामग्री मेरे पास है, उससे मैं किस प्रकार ऐसा करूँगा ? इनके उत्तर ही आपके भाषणकी रूप-रेखा होंगे।'

वार्त्ताकार अपने उद्देश्य एवं कथ्यसे परिचित होकर जब चिन्तन-मननके बाद यह निश्चित कर लेता है कि उसकी विषय-वस्तुका किस प्रकार क्रमिक विकास हो, किन सामग्रियोंका उपयोग किया जाय, और किन्हें छोड़ दिया जाय, किन आँकड़ों एवं दृष्टान्तोंसे वार्त्ताको स्पष्ट, रोचक एवं प्रभावोत्पादक बनाया जाय, वार्त्तामें उसका दृष्टिकोण क्या रहे, तब उसकी तैयारी लगभग पूरी हो जाती है।

०

रेडियो-वार्ता : प्रारम्भ, मध्य और अन्त

रेडियो-वार्ताकी तैयारीके बाद वार्ता-सम्बन्धी सबसे प्रधान कार्य प्रारम्भ होता है—रेडियो-वार्ता-लेखनका । और, इस प्रक्रियामें वार्ताकारके सामने सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह आता है कि वह अपनी वार्ताका प्रारम्भ किस प्रकार और किस प्रसंगसे करे । वक्तृत्व कलामें भाषणके प्रारम्भको बड़ा महत्त्वपूर्ण माना जाता है । सभी अनुभवी वक्ता इस बातपर जोर देते हैं कि भाषणका आरम्भ बहुत आकर्षक और रोचक होना चाहिए । रेडियो-वार्तापर यह बात विशेष रूपसे लागू है । सफल रेडियो-वार्ताको अपनी दो-चार प्रारम्भिक पंक्तियोंसे ही श्रोताओंका ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर लेना चाहिए, इस सम्बन्धमें सभी कुशल रेडियो-प्रसारणकर्त्ता एकमत हैं । इसके कारणकी चर्चा पहले की जा चुकी है कि रेडियो-वार्ताको रोचकताकी बड़ी तीव्र प्रतियोगितामें काम करना होता है । नाटक, गीत आदि रोचक विषयोंके साथ रेडियो-वार्ताको भी अपनी रोचकता सिद्ध करनी होती है । यह सही है कि वार्ताकी रोचकता श्रोताओंकी रुचिपर भी निर्भर है, पर जबतक वार्ताकी अभिव्यक्तिमें रोचकता नहीं आती, तबतक कोई भी रेडियो-वार्ता सफल नहीं कही जा सकती ।

प्रश्न यह है कि आकर्षण और रोचकताकी सृष्टि कैसे की जाय, और वार्ताके प्रारम्भको कैसे प्रभावशाली बनाया जाय ? इस सम्बन्धमें ध्यान देनेकी सबसे पहली बात यह है कि रेडियो-वार्तामें भूमिकाके लिए अवकाश

नहीं है। भूमिकात्मक प्रारम्भ किसी वार्ताको निश्चित रूपमें अवरुद्ध कर देता है। निबन्धोंके प्रारम्भमें जिस प्रकार भूमिकाएँ लिखी जाती हैं, उस प्रकार वार्तामें नहीं लिखी जा सकती। पर हमारे यहाँकी रेडियो-वार्ताएँ निबन्धकी शैलीसे प्रभावित होनेके कारण अधिकतर भूमिकाओंसे ही प्रारम्भ होती हैं। कहीं-कहीं तो ये भूमिकाएँ बहुत बड़ी और लम्बी होती हैं, और वार्ताके मूल विषयसे उनका विशेष सम्बन्ध भी नहीं होता। उदाहरणके लिए कुछ वार्ताओंके प्रारम्भ देखे जा सकते हैं। 'पुराणोंमें प्रतीक' शीर्षक वार्ताका प्रारम्भ इस प्रकार है :

'भारतवर्षका पुराण साहित्य एक अत्यन्त अद्भुत और रहस्यमय साहित्य है। इसके सम्बन्धमें विद्वानोंकी अनेक विरुद्ध धारणाएँ हैं। सभी धारणाओंकी पुष्टिके लिए पुराणोंमें प्रमाण मिल जाते हैं। एक ओर तो स्वामी दयानन्द सरस्वती-जैसे पण्डितोंका यह मत है कि पुराण कपोल-कल्पित, मनगढ़न्त, अनैतिहासिक, झूठी और बहुधा अश्लील कहानियोंके संग्रह हैं। पाश्चात्य विद्वानोंके मतमें भी पुराणोंमें केवल समाज और मानवजातिके शैशवकालके समयमें प्रचलित धार्मिक काल्पनिक कहानियाँ हैं। प्रायः सभी देशोंमें इस प्रकारकी कहानियाँ प्रचलित हैं, और वे प्राचीन कालसे चली आती हैं। इन कहानियोंका आधार आदिम मनुष्योंकी सृष्टि, ईश्वर और परलोक आदि सम्बन्धी स्थूल विचार हैं। [(१५ मिनटकी वार्तामें लगभग चार मिनट तक पुराणोंकी चर्चा करनेके बाद वार्ताकार आगे कहता है।)] संस्कृत भाषामें दो शब्द, जो एक ही धातुसे निकले हैं भिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त किये गये हैं। एक है प्रतिमा और दूसरा है प्रतीक। [फिर कुछ देरके बाद] ऐसा ज्ञात पड़ता है कि पुराणोंमें वर्णित सभी देवी-देवता, उनके रूप और आभूषण और उनके वाहन प्रतीक मात्र हैं।'

[रेडियो संग्रह, अक्तूबर दिसम्बर १९५१]

अब दूसरी वार्ता 'हिन्दीके [illegible] [illegible]' का प्रारम्भिक अंश इस प्रकार है

'इंग्लैंडमें स्त्रीशिक्षा आन्दोलनके कारण स्त्रियोंमें भारी जागृति आयी। लेकिन अभी तक स्त्रियोंकी स्थिति पिछड़ी हुई है। सरोजिनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित, राजकुमारी अमृतकौर आदि अपवाद हैं। हमारे देशमें स्त्रियोंको कानूनी हक मिले हैं, लेकिन उनकी शिक्षा आदिका स्तर अभी बहुत असंतोषजनक है। धीरे-धीरे स्थिति बदल रही है, और हमें आशा है कि शीघ्र ही भारतमें भी स्त्रियोंकी उन्नति तेजीसे होने लगेगी।

स्त्रियोंके लिए शिक्षा, चिकित्सा आदिके क्षेत्र विशेष रूपसे उपयुक्त हैं। परन्तु वकालतका एक ऐसा क्षेत्र है, जो आसानीसे अपनाया जा सकता है, क्योंकि इसमें पौरुषकी आवश्यकता कम है। नैतिक साहसमें तो स्त्रियाँ किसी प्रकार भी पुरुषोंसे पीछे नहीं हैं। वकालतमें स्त्रियोंको सफलता भी काफी मिली है।'

[प्रसारित, जुलाई-दिसम्बर १९५५]

इस प्रकारके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। रेडियो-वार्तामें इस प्रकारके भूमिकाहीन प्रारम्भकी उपयुक्तताका एक कारण यह भी है कि रेडियो-वार्ताकी अवधि सीमित होती है। अगर कोई वार्ता १० मिनटकी है, तो उसे प्रसारणके समय कभी भी ११ मिनटका समय नहीं दिया जा सकता। उसे १० मिनटके भीतर ही समाप्त होना है। पत्र-पत्रिकाओंमें मुद्रित निबन्धोंके लिए इतना कठिन बन्धन नहीं होता। अतः रेडियो-वार्तामें भूमिका देनेका अर्थ है समयका दुरुपयोग। वार्ताकारको अपनी सीमित अवधिका अधिकाधिक उपयोग करना है, और इसके लिए उसे भूमिकामें अपना बहुमूल्य समय नष्ट नहीं करना चाहिए। समयका यह प्रश्न श्रोताओं-की दृष्टिसे भी महत्त्व रखता है। आज हम सभी गतिके युगमें हैं; प्रारम्भिक युगमें लोगोंके जीवनमें जो अवकाश था, वह आधुनिक युगके जीवनमें नहीं रह गया है। समयकी चिन्ता सबको लगी रहती है। ऐसी स्थितिमें श्रोता भी चाहता है कि वार्ताकार लम्बी-चौड़ी भूमिका न बाँधे, बल्कि उसे जो कुछ कहना है, उसे वह जल्दी और बिलकुल सीधे ढंगसे कहे। 'पब्लिक

अपने खास लहजेमें वे बोले—'जनाब ! ईश्वरमें विश्वास करनेकी जरूरत ही उन्हें पड़ती है जो आदमीमें देवत्वका दर्शन नहीं कर सकते। यह तो अनुभवकी बात है, किसी चमत्कारकी नहीं कि बुरा आदमी भी बिलकुल बुरा नहीं होता। उसमें कहीं-न-कहीं देवत्व अवश्य छिपा रहता है। मैंने अपनी कलममें इस सत्यको कहीं-कहीं उभार दिया है, और कहीं-कहीं प्रकाशित कर दिया है।'

प्रेमचन्दजी अपने इसी मूल दृष्टिकोणके कारण बुरे आदमियोंकी भी बुराई नहीं करते थे, या यूँ कहूँ कि बुरे आदमियोंकी बुराईको सह जाते थे, पी जाते थे, पचा जाते थे।'

[प्रसारिका, जुलाई-दिसम्बर १९५५]

अगर यह वार्ता यहींसे प्रारम्भ होती कि 'एक दिन मैंने प्रेमचन्दजीसे पूछा—', और शुरूमें कही गयी बातें कही बादमें आ जातीं, तो प्रारम्भ शायद कुछ और आकर्षक हो जाता। महान् व्यक्तियोंके संस्मरणोंमें जो आकर्षण होता है, वह उनकी जीवन-चर्चामें नहीं, उनके गुणोंके सम्बन्धमें लिखे गये निबन्धोंमें भी नहीं। अतः किसी रोचक संस्मरणसे वार्ताका प्रारम्भकर उसमें श्रोताओंकी रुचि उत्पन्न की जा सकती है। वार्ताके प्रारम्भका उद्देश्य यही होता है कि उससे श्रोताओंके मनमें वार्ताके अगले अंशोंके प्रति रुचि एवं जिज्ञासा जगे। आकाशवाणी प्रसारिका [अप्रैल-जून १९५६] में एक वार्ता है—'बापूका पत्र-साहित्य'। इसमें बापूके कुछ बड़े सुन्दर पत्र उद्धृत किये गये हैं, जिनमें किसीकी भी रुचि हो सकती है, लेकिन वार्ताकार प्रारम्भ करते हैं इस प्रकार—

'पत्र लेखन एक कला है। गांधीजी इस कलामें बहुत निपुण थे। उनके बहुविध पत्रोंकी संख्या हजारों तक पहुँचती है। अकेली मीरा बहन, उनकी एक प्रधान यूरोपियन शिष्या, के पास ६०० से अधिक उनके पत्र हैं। ऐसे सैकड़ों व्यक्ति भारतमें तथा बीसियों विदेशोंमें होंगे जिन्हें वे समय-समयपर बड़े चावसे पत्र लिखा करते थे। उन्होंने वायसराय और

स्पीकिंग फॉर बिजिनेस मेन' पुस्तकके लेखक सिडनी एफ विक्सने बहुत ठीक कहा है कि 'भाषण लिखनेमें, कोई रचना लिखनेकी तरह ही, हम लोग पीछे मुड़कर साधारणतः पहले पैराग्राफको निकाल दे सकते हैं। आप जहाँ अपनी भूमिकाका अन्त समझते हैं, वहींसे प्रारम्भ कीजिए।' सचमुच अपने विषयमें सहसा प्रवेश कर जाना कितना आकर्षक होता है, यह 'सर्वोदय' शीर्षक वार्त्ताकी पहले उद्धृत की गयी पंक्तियोंमें फिरसे देखा जा सकता है :

'यह सर्वोदय विचार है क्या ? पहली बात यह समझ लेनी चाहिए कि यह कोई वाद नहीं है, जैसे कि कई प्रकारके वाद आज प्रचलित हैं। यह एक मुक्त विचार है। महात्माजीने स्वयं जोर देकर कहा था कि उन्होंने किसी भी प्रकारके वादकी स्थापना नहीं की है। वह तो केवल सत्यकी खोजमें लगे रहे थे। इसी शोधमें उन्हें अहिंसा अथवा सर्वोदयका विचार मिला था।'

भूमिकात्मक प्रारम्भको निकाल देनेसे कुछ वार्त्ताएँ किस प्रकार आकर्षक हो जा सकती हैं, इसके अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। एक उदाहरण यहाँ 'प्रेमचन्दकी जय' शीर्षक वार्त्ताका है :

'अनन्तदानी प्रेमचन्दकी जय। सचमुच वे अनन्तदानी थे। बिना कुछ पास हुए भी दिये ही गये और इस निरन्तर दानमें कहीं भी उस अप्राप्तिकी रुखता या कड़वाहट नहीं। सचाई यह है कि प्रेमचन्द अपने समयके बहुत बड़े कलाकार थे, पर उससे भी बड़े मनुष्य थे। समाजकी उस उपेक्षामें भी दिये जाना और अपनेको कटुतासे बचाये रखना किसी साधारण मनुष्यके लिए सम्भव ही नहीं था।

उनकी आँखें बुराइयोंकी सघन सपाट दीवारके आर-पार मनुष्यमें देवत्वका दर्शन करनेकी आदी थीं। एक दिन मैंने उनसे पूछा—'कहनेको तो आप कहते हैं कि मेरा ईश्वरमें विश्वास नहीं है; मैं नास्तिक हूँ; पर अपने साहित्यमें बार-बार आपका प्रयत्न है मनुष्यमें देवत्वका दर्शन, प्रचार और उभार। भला यह क्या बात है ?'

अपने खास लहजेमें वे बोले—'जनाब! ईश्वरमें विश्वास करनेकी जरूरत ही उन्हें पड़ती है जो आदमीमें देवत्वका दर्शन नहीं कर सकते। यह तो अनुभवकी बात है, किसी चमत्कारकी नहीं कि बुरा आदमी भी बिल्कुल बुरा नहीं होता। उसमें कहीं-न-कहीं देवत्व अवश्य छिपा रहता है। मैंने अपनी कलमसे इस तत्त्वको कहीं-कहीं उभार दिया है, और कहीं-कहीं प्रकाशित कर दिया है।'

प्रेमचन्दजी अपने इसी मूल दृष्टिकोणके कारण बुरे आदमियोंकी भी बुराई नहीं करते थे, या यूँ कहें कि बुरे आदमियोंकी बुराईको सह जाते थे, पी जाते थे, पचा जाते थे।'

[प्रसारिका, जुलाई-दिसम्बर १९५५]

अगर यह वार्त्ता यहींसे प्रारम्भ होती कि 'एक दिन मैंने प्रेमचन्दजीसे पूछा—', और शुरूमें कही गयी बातें कहीं बादमें आ जातीं, तो प्रारम्भ शायद कुछ और आकर्षक हो जाता। महान् व्यक्तियोंके संस्मरणोंमें जो आकर्षण होता है, वह उनकी जीवन-चर्चामें नहीं, उनके गुणोंके सम्बन्धमें लिखे गये निबन्धोंमें भी नहीं। अतः किसी रोचक संस्मरणसे वार्त्ताका प्रारम्भकर उसमें श्रोताओंकी रुचि उत्पन्न की जा सकती है। वार्त्ताके प्रारम्भका उद्देश्य यही होता है कि उससे श्रोताओंके मनमें वार्त्ताके अगले अंशोंके प्रति रुचि एवं जिज्ञासा जगे। आकाशवाणी प्रसारिका [अप्रैल-जून १९५६] में एक वार्त्ता है—'बापूका पत्र-साहित्य'। इसमें बापूके कुछ बड़े सुन्दर पत्र उद्धृत किये गये हैं, जिनमें किसीकी भी रुचि हो सकती है, लेकिन वार्त्ताकार प्रारम्भ करते हैं इस प्रकार—

'पत्र लेखन एक कला है। गांधीजी इस कलामें बहुत निपुण थे। उनके बहुविध पत्रोंकी संख्या हजारों तक पहुँचती है। अकेली मीरा बहन, उनकी एक प्रधान यूरोपियन शिष्या, के पास ६०० से अधिक उनके पत्र हैं। ऐसे सैकड़ों व्यक्ति भारतमें तथा बीसियों विदेशोंमें होंगे जिन्हें वे समय-समयपर बड़े चावसे पत्र लिखा करते थे। उन्होंने वायसराय और

चाहता हूँ कि आप टेलीफोनके पास जायें, और अपने पाँच मित्रोंको कह दें कि वे भी सुनें। मैं चार-पाँच मिनट तक यों ही बातें करता रहूँगा, बिना कोई विशेष बात कहे ही, इसलिए आप टेलीफोनके पास जाइए, और अपने मित्रोंसे कह दीजिए कि ह्वे लाग रेडियोपर बोल रहा है।'

इसमें सन्देह नहीं कि यह एक आकर्षक प्रारम्भ है, पर आकाशवाणीमें ऐसी नाटकीयताके लिए सम्भवतः बहुत कम स्थान है। फिर भी अपनी सीमामें ही नाटकीयताका उपयोग किया जा सकता है। उदाहरणके लिए, किसी व्यक्तिका परिचय देते समय यह आवश्यक नहीं कि उसके जन्मकी बातसे ही वार्ता प्रारम्भ की जाय, जैसा कि इन वार्ताओंमें किया गया है :

'स्वामी रामकृष्ण परमहंसका जन्म बंगाल प्रान्तके हुगली ज़िलेमें १७ फरवरी सन् १८३६ ई०, बुधवारको कामारपुकर नामक गाँवमें हुआ था। यह गाँव कलकत्तासे लगभग पचास मीलकी दूरीपर पश्चिमकी दिशामें है। इनका जन्म नाम गदाधर था।'

[प्रसारिका, जुलाई-दिसम्बर १९५५]

और,

'ऋषि दयानन्दका जन्म काठियावाड़में मोरवी राज्यके एक कस्बेमें लगभग संवत् १८८१ अर्थात् सन् १८२४ ई० में हुआ था। उनका जन्म नाम मूलशंकर था। उस समय भारतकी सामाजिक अवस्था बड़ी शोचनीय थी।' आदि

–दिसम्बर १९५५]

पूर्ण एवं आकर्षक नाट-

कता है। कुछ ऐसे

च

रेडि

द है। वार्ता किसी

हास्य-प्रधान प्रसंग या उक्तिसे शुरू की जा सकती है। 'जीनेका सलीका' शीर्षक इस वार्ताका प्रारम्भ देखिए :

'एक साहब पिटते भी जा रहे थे और हँसते भी जा रहे थे और जिस कद्र बेतहाशा पिटते थे उस ही कद्र बेतहाशा हँसते थे। दर्याफ्त हाल करनेपर साहब मौसूफने बताया कि पीटनेवाला गलत आदमीको पीट रहा था। इसलिए उसकी हिमाकतसे लुत्फ अन्दोज हो रहे थे। तो हजरत यह तो रहा पिटनेका सलीका।

अब रहा जीनेका सलीका। इसका सलीका भी सुन लीजिए। दो आदमी एक ही कोठरीमें बन्द थे। रात बड़ी तारीक और भयानक थी और तूफान सिरपर था। तूफान थमा तो दोनों कोठरीके दरवाजेपर आये और सलाखोंसे झाँकने लगे। एक यह कहता हुआ वापस गया—'उफ, किस बलाकी तारीकी है।' दूसरा वहीं खड़ा रहा और अपने साथीसे बोला—'देखना एक तारा भी चमक रहा है।' सलीका तो खत्म हो गया, लेकिन कहनेवाले कहते हैं कि बात खत्म नहीं हुई, बल्कि इसमें जीनेका एक सलीका छुपा हुआ है। अगर इस सलीकेको आप पा न सकें या उसके कायल न हों तो मारिए गोली इस सारे सिलसिलेको।

किसी कामको खूबी और खूबसूरतीसे करना सलीका है। यूँ भी कह लीजिए तो कोई मुजायका नहीं कि किसी कामको इस तरह करना या करना कि उसका हक अदा हो जाये सलीका है। इस लिहाजसे मैं कुछ ऐसा समझता हूँ कि धर्म, इन्साफ, भाई, [illegible] सबका बड़ा कुछ मदार सलीके और सलीकामन्दीपर है। आपको इस सिलसिलेमें एक मशहूर [illegible] लतीफा मालूम है जिसमें एक साहबने दरयाफ्त किया कि 'हकीम साहब, आपके इलाजसे भी लोग मरते हैं और कभी [illegible] इन्सान भी मरते हैं, फिर आप दोनोंमें फर्क क्या रहा?' हकीम साहबने फरमाया—'कोई फर्क नहीं।' कहना सिर्फ इतना है कि वह भी [illegible]

लेता है, मैं कायदेसे जान लेता हूँ।' यह कायदा भी सलीकेका ही का दूसरा नाम है?'

[रेडियो संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

किसी उद्धरणसे भी वार्त्ताका प्रारम्भ आकर्षक बनाया जा सकता है। किसी कविताकी दो चुभती हुई पंक्तियाँ उद्धृत कर प्रारम्भमें चमत्कार उत्पन्न किया जा सकता है। कवियों और साहित्यकारोंपर वार्त्ताएँ देते समय तो इसके लिए बहुत ही अवकाश रहता है, पर उसका पर्याप्त उपयोग नहीं किया जाता। उद्धरणवाले प्रारम्भके दो उदाहरण यहाँ देखे जा सकते हैं। 'हिन्दीमें व्यंग्य' शीर्षक वार्त्ताका प्रारम्भ है

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु,
नहिं विकास एहि काल।
अली कली ही सौं बँध्यो,
आगे कौन हवाल॥

बिहारीकी इन पंक्तियोंमें छिपे व्यंग्यने कर्त्तव्य-विमुख राजाको बिना आघात पहुँचाये झकझोर कर जगा दिया था। व्यंग्य उस चाबुककी तरह है जो अगर चोट पहुँचाता है तो इसीलिए कि हमें सचेत करना चाहता है। व्यंग्य सचेत न करे, जगाये नहीं, सिर्फ चोट ही पहुँचाये, आघात ही करे तो वह व्यंग्य नहीं है, व्यंग्य-सी लगनेवाली वह चीज गाली है।'

[रेडियो-संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

दूसरा उदाहरण 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' वार्त्ताका है :

'महाकवि इक़बालका एक गीत भारतमें बहुत प्रचलित है—

सारे जहाँसे अच्छा हिन्दोस्ताँ हमारा।
हम बुलबुले हैं उसकी, वह गुलिस्ताँ हमारा॥

किन्तु, इक़बालसे बहुत पहले यह भाव बंगालमें जन्मा था, जहाँके

महाकवि बंकिमचन्द्रने भारत माताकी कल्पना, सचमुच ही, माता अथवा महादेवीके रूपमें की और देशको वन्दे मातरम्का जागरण-मन्त्र देते हुए उन्होंने बड़े ऊँचे धरातलसे एक नयी स्तुतिका गान किया—'सुजलां सफलां मलयजशीतलां........' आदि-आदि।

[प्रसारिका, जनवरी-मार्च १९५६]

कविताओंके अतिरिक्त किसी महापुरुष या विद्वान्के उद्धरणसे भी वार्त्ताएँ प्रारम्भ की जा सकती हैं। किसी महापुरुषकी उक्तिसे वार्त्ताका सौन्दर्य भी बढ़ता है, उसमें शक्ति भी आती है, उसका आकर्षण भी बढ़ता है। 'जार्ज अरुण्डेल' शीर्षक इस वार्त्ताका प्रारम्भ देखिए :

'महात्माजीने एक बार मुझसे कहा था कि अंग्रेज तो योगियोंकी सन्तान मालूम होते हैं। उनकी प्रबन्ध-पटुता, नियमित और व्यवस्थित जीवन, कार्य-दक्षता किसी योगीसे कम नहीं। बस एक कसर है कि उनका ज्यादा प्रयत्न दूसरोंका शोषण करनेके लिए होता है। दूसरे मायनोंमें मैं उनको कभी-कभी रावणकी सन्तान कहा करता हूँ। रावण भी बड़ा विद्वान् और तपस्वी था, अच्छा शासक और संगठनकर्त्ता था, परन्तु वह रावण इसलिए कहलाया कि दूसरोंको सताता था। फिर भी अंग्रेजोंके गुणोंका मैं भक्त हूँ और उनके मुकाबिलेमें कई बार हिन्दुस्तानियोंको घटिया पाता हूँ।

स्वर्गीय जार्ज अरुण्डेलका ख्याल आते ही महात्माजीके पूर्वोक्त वचन याद आ जाते हैं। फर्क इतना ही है कि अंग्रेजोंमें दूसरोंका शोषण करनेकी जो वृत्ति पायी जाती है, उससे श्री अरुण्डेल बिलकुल बरी थे। विद्वान् तो थे ही, लेकिन उनकी दृष्टिमें विद्वत्ताका दर्जा जीवन-शुद्धि और जीवन-सिद्धिके मुकाबिलेमें कम था। उनकी इस विशेषताने उन्हें कोरा विद्वान् न रहने देकर थियोसफी जैसी ब्रह्म-विद्या सम्बन्धी संस्थाका अधिष्ठाता बना दिया।'

[रेडियो-संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

वार्त्ताको रोचक कहानियोंसे भी प्रारम्भ किया जा सकता है। इस

बन्धमें भी यही ध्यान रखना होता है कि कहानी प्रासंगिक हो, और तके मूल विषयसे उसका घनिष्ठ सम्बन्ध हो। 'समताका सिद्धान्त'— ा गम्भीर विषयका यह आकर्षक प्रारम्भ दर्शनीय है :

'विधाताने जब सृजनका काम शुरू किया तब समताका सिद्धान्त ही सका मापदण्ड था। एक आदिवासी लोक-कथाके अनुसार सबसे पहले वल चार योनियोंमें प्राणी-जगत्की रचना हुई—आदमी, बैल, कुत्ता ार घुग्घू।

आदमीके सुपुर्द काम हुआ प्रकाशकी शक्तियोंका आह्वान और ईश्वर- ा गुणगान।

बैलके सुपुर्द हुआ प्राणी-जगत्का सेवा-भार।

कुत्तेके सुपुर्द हुआ प्राणी-जगत्की रखवाली।

और अन्धकारकी शक्तियोंपर निगाह रखनेका काम घुग्घूको सौंपा या।

परमात्माके दरबारमें उस वक्ततक सिर्फ एक तराजू थी, और वह थी समताकी। चारोंकी तलबी हुई और ईश्वरीय आदेश सुना दिया गया तुम चारोंको चालीस-चालीस बरसकी जीवन-अवधि दी जाती है।

आदेश सुनकर चारोंका मन उदास हो गया। आदमीने सोचा, चालीस बरसमें तो उसके जवानीके हौसले भी पूरे न हो सकेंगे। मगर सबसे समझ-दार प्राणी होनेके नाते वह धीरजका घूँट पीकर खामोश रहा।

परन्तु बैलसे न रहा गया। उसकी दोनों आँखोंसे टप-टप आँसू गिरने लगे। आरजू-भरे स्वरमें बोला—हे दयाके स्रोत! चालीस बरसतक निर-न्तर पिसते रहनेकी मेरे अन्दर शक्ति नहीं। मुझे केवल बीस वर्षकी आयु चाहिए। मगर परमात्माकी बख्शीशकी वापसीका तो कोई प्रश्न ही नहीं था। ऐसे गाढ़े वक्तपर आदमी बैलके काम आया। उसने विनती की—बैल-की आयुके बाकी बीस वर्ष मैं सहर्ष लेनेको तैयार हूँ। इस तरह मनुष्यकी आयु चालीससे साठ वर्ष हो गयी।

उद्धरणों आदिके द्वारा ऐसा किया जा सकता है। जैनेट डनबरके अनुसार, 'विविधता आवश्यक है : मन:-स्थितिमें परिवर्त्तन, दृष्टिकोणमें परिवर्त्तन, और स्पष्टीकरणमें परिवर्त्तन।' तात्पर्य स्पष्ट है कि वार्त्ताकार अपने विषयको विभिन्न दृष्टियोंसे देखे, उसके विभिन्न पहलुओंको उद्घाटित करे, स्थान-स्थानपर विषयान्तर भी करे। विषयान्तरसे एकरसता अवश्य ही भंग होती है, पर श्रोताको समझनेमें कोई कठिनाई नहीं हो, इसलिए विषयान्तर करते समय वार्त्ताकारके लिए यह कह देना आवश्यक होता है कि वह मुख्य विषयसे हटकर दूसरी ओर जा रहा है, और ऐसा वह क्यों कर रहा है। मुख्य विषयपर आते समय विषयान्तरके पहले छोड़ी हुई मुख्य बातको दूसरे शब्दोंमें उल्लेख करके आगे बढ़नेसे विचारोंकी शृंखला बनी रहती है।

वार्त्ताकी सभी मुख्य बातोंको एक ही स्थानपर न कहकर कुछ-कुछ अन्तरपर कहते रहनेसे विविधता बनी रहती है। इसके विपरीत सभी मुख्य बातोंको एक ही स्थानपर रखनेसे एकरसताकी सृष्टि होती है। वार्त्ताकी मुख्य बातोंको किस प्रकार और कहाँ-कहाँ रखा जाय, यह एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विषय है, और इसपर वार्त्ताकारको अवश्य ही ध्यान देना चाहिए।

वार्त्ताके क्रमिक विकासके सम्बन्धमें यह पहले ही कहा जा चुका है कि वार्त्ताकी विषय-वस्तुका विकास तर्कसंगत रूपमें, कारण-कार्य-सम्बन्धके आधारपर होना चाहिए। वार्त्ताकी सभी कड़ियोंको सुगम्बद्ध होना चाहिए। इस पद्धतिमें श्रोताओंकी जिज्ञासाको जगाये रखनेकी शक्ति रहती है।

वार्त्ताके विकासकी दृष्टिसे आचार्य विनोबा भावेके इस प्रवचनका अध्ययन किया जा सकता है .

'हमने आज़ादी अहिंसक तरीक़ेसे हासिल की। अब एक बड़ा भारी सवाल हमारे सामने यह है कि आर्थिक तथा सामाजिक रचना करनेमें कौनसे तरीक़े इस्तेमाल किये जायँ। गाँधीजीके ज़मानेमें अहिंसात्मक तरीक़ा इस्तेमाल किया गया। इसमें कोई विशेषता नहीं है, क्योंकि

'वर्त्तमान वर्माकी प्रगतिकी रेखाएँ इतनी सीधी नही है कि उनकी चर्चा थोड़े समयमें हो सके।'

[रेडियो संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

सीमित अवधिका संकेत प्रारम्भमें या अन्तमें या कहीं भी, प्रशंसनीय नही समझा जा सकता। वार्त्ताकार जानता है कि उसे एक सीमित अवधिमें ही अपनी बात कहनी है, उसे समयके बन्धनको स्वीकार करके ही चलना है। श्रोता भी इस बन्धनसे परिचित है, उसे इसकी याद दिलानेकी कोई आवश्यकता नही होती। इसका प्रभाव श्रोतापर अच्छा नही पड़ता।

प्रारम्भके बाद वार्त्ताके मध्य भागका प्रश्न आता है। वार्त्ताकी सफलता केवल उसके प्रारम्भपर निर्भर नहीं है, प्रारम्भ तो श्रोताओंके मनको अपनी ओर केवल आकृष्ट भर कर लेता है, विषयके प्रति श्रोताओंमें अभिरुचि उत्पन्न कर देता है। उसके बादका सब काम तो वार्त्ताके मध्य भागपर ही निर्भर है। श्रोता अन्त तक वार्त्ताको सुनता रह सके, इसके लिए इस मध्य भागमें भी पर्याप्त आकर्षणका रहना अनिवार्य है। जैसा कि जेनेट डनबर कहते है, रोचकताका सतत नवीन होते रहना ही श्रोताओंके ध्यानको जगाये रखता है। प्रश्न यह है कि वार्त्तामें प्रारम्भसे लेकर अन्त तक किस प्रकार रोचकताको बनाये रखा जाय। इसके लिए भी बँधे हुए नियम नही है, वार्त्ताकारकी प्रतिभापर ही यह भी निर्भर है। फिर भी यहाँ कुछ ऐसे उपायोंकी चर्चा की जा रही है, जिनसे वार्त्ताके मध्य भागमें रोचकता बनाये रखनेमें सहायता मिलती है।

वार्त्ताकारको सबसे पहले तो यह ध्यान रखना होता है कि समूची वार्त्ता एक ही प्रकारकी या एकरस न हो। एकरसता रोचकताके मार्गमें सबसे अधिक बाधा डालती है। समूची वार्त्तामें केवल चौंकानेवाली बातें ही रहें, सब कुछ नाटकीय ही रहे, या सब कुछ बिल्कुल साधारण ढंगसे कहा जाय, तो वार्त्तामें एकरसता अनायास ही आ जायेगी। इस एकरसताको भंग करनेका प्रयत्न आवश्यक है। बीच बीचमें रोचक प्रसंगों, दृष्टान्तों,

उदाहरणों आदिके द्वारा ऐसा किया जा सकता है। जैनेट डनवरके अनुसार, 'विविधता आवश्यक है : मन-स्थितिमें परिवर्तन, दृष्टिकोणमें परिवर्तन, और स्पष्टीकरणमें परिवर्तन।' तात्पर्य स्पष्ट है कि वार्ताकार अपने विषयको विभिन्न दृष्टियोंसे देखे, उसके विभिन्न पहलुओंको उद्घाटित करे, स्थान-स्थानपर विषयान्तर भी करे। विषयान्तरसे एकरसता अवश्य ही भंग होती है, पर श्रोताको समझनेमें कोई कठिनाई नहीं हो, इसलिए विषयान्तर करते समय वार्ताकारके लिए यह कह देना आवश्यक होता है कि वह मुख्य विषयसे हटकर दूसरी ओर जा रहा है, और ऐसा वह क्यों कर रहा है। मुख्य विषयपर आते समय विषयान्तरके पहले छोड़ी हुई मुख्य बातका दूसरे शब्दोंमें उल्लेख करके आगे बढ़नेसे विचारोंकी शृंखला बनी रहती है।

वार्ताकी सभी मुख्य बातोंको एक ही स्थानपर न कहकर कुछ-कुछ अन्तरपर कहते रहनेसे विविधता बनी रहती है। इसके विपरीत सभी मुख्य बातोंको एक ही स्थानपर रखनेसे एकरसताकी सृष्टि होती है। वार्ताकी मुख्य बातोंको किस प्रकार और कहाँ-कहाँ रखा जाय, यह एक बड़ा ही महत्वपूर्ण विषय है, और इसपर वार्ताकारको अवश्य ही ध्यान देना चाहिए।

वार्ताके क्रमिक विकासके सम्बन्धमें यह पहले ही कहा जा चुका है कि वार्ताकी विषय-वस्तुका विकास तर्कसंगत रूपमें, कारण-कार्य-सम्बन्धके आधारपर होना चाहिए। वार्ताकी सभी कड़ियोंको सुसम्बद्ध होना चाहिए। इस पद्धतिमें श्रोताओंकी जिज्ञासाको जगाये रखनेकी शक्ति रहती है।

वार्ताके विकासकी दृष्टिसे आचार्य विनोबा भावेके इस प्रवचनका अध्ययन किया जा सकता है :

'हमने आज़ादी अहिंसक तरीके ... बड़ा भारी
सवाल हमारे सामने म ... ना करनेमें
कौन-से तरीके ह ... अहिंसात्मक
तरीका ह ...

उस समय हम लाचार थे, हिंसा नहीं कर सकते थे। इसलिए उस समयकी हमारी अहिंसा अशरणकी शरण थी, अगतिकताकी गति थी और अनाश्रयका आश्रय थी। उस समय हमारे सामने एक ही रास्ता था। लेकिन अब दूसरी बात है। हम चाहें तो सेना बढ़ा सकते हैं; चाहें तो हिंसाकी राह ले सकते हैं और चाहें तो अहिंसाकी राह ले सकते हैं। उस समय चुनावकी सत्ता हमारे हाथमें नहीं थी; लेकिन आज है। भगवान्ने बापूको देहसे मुक्त कर दिया और हमारे सामने सवाल रख दिया है। हम खुले तौरपर, बिना किसीके दबावके चुनाव कर सकें, इसीलिए *भगवान् बापूको ले गया। अब उनका दबाव हमारे सिरपर नहीं है।* वे रहते, तो शायद हम बिना सोचे उनके पीछे-पीछे अहिंसाकी राहपर जाते, लेकिन भगवान् चाहता है, हम खुद सोचकर अपना रास्ता तय करें।

आप चाहें तो रूस या अमेरिकाको अपना गुरु बनायें और अपनी खुदकी स्वतन्त्र इच्छासे उनके गुलाम बनें। हम किसीको गुरु बनाते हैं, तो अपनी स्वतन्त्र इच्छासे ही बनाते हैं। तो क्या हम उनके शागिर्द बनना चाहते हैं? क्या हमारा यही नसीब है? वे तो हमसे काफी आगे बढ़े हुए हैं। हम उनकी ताकत लेकर चलें, तो उनके जैसा बननेमें हमें अभी ५० साल लगेंगे; और फिर भी शायद हम उनके पीछे ही रहेंगे। या तो भारत उनमें-से किसी एकका गुलाम बनेगा या उनसे ताक़तवर बनेगा। अगर ताकतवर हुआ, तो दुनियाके लिए वह खतरनाक बनेगा। तो क्या उनको गुरु बनाकर गुलाम या दुनियाके लिए खतरनाक बनना चाहते हो?

भगवान्ने भारतको नसीब ही ऐसा दिया है कि वह या तो अहिंसामें श्रद्धा रखे या हिंसाके पण्डितोंका अनुयायी बने। हमारा देश खण्डप्राय है। यहाँपर अनेक भाषाएँ, जातियाँ, धर्म और पन्थ हैं। ऐसी हालतमें क्या इस देशको हिंसाके आधारपर एक बनाया जा सकता है? आज आन्ध्र-वाले स्वतन्त्र *आन्ध्र प्रान्त* चाहते हैं, तो क्या उनका अपने मकसदके लिए हिंसात्मक तरीके इस्तेमाल करना मंजूर करोगे? अगर आप हिंसाको

मानते हैं, तो बापूका खून करनेवाला पुण्यवान् था—ऐसा कहना होगा। चाहे उसका विचार गलत था, परन्तु वह प्रामाणिक था—ऐसा कहना होगा। अगर अच्छे और सच्चे विचारके लिए हिंसात्मक तरीकोंको मानते हैं, तो गांधीजीकी हत्या करनेवालेने त्याग किया, उसने प्रामाणिकतासे अपने विचारका आग्रह रखा—ऐसा कहना पड़ेगा। इसलिए हिंसाको छोड़ना ही होगा। उससे भारतके टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे।

जमीनकी समस्या तो सारी दुनियामें है, पर हम किस तरीकेसे उसे हल करते हैं, यही सवाल है। दुनियामें हिंसाके तरीके आजमाये गये हैं। अगर हम अपना तरीका नहीं चलाते, तो बाहरका तरीका यहाँपर आनेवाला है। सारी दुनियामें विचारका प्रवाह इधरसे-उधर और उधरसे-इधर बहता रहता है। मानसूनकी तरह क्रान्तिकारक विचार भी बाहरसे यहाँ आयेंगे और यहाँसे बाहर जायँगे। हवाकी तरह विचारको किसी भी पास-पोर्टकी जरूरत नहीं होती। विचारको कोई भी दीवाल नहीं रोक सकती। इसलिए तय करो कि भूमिकी समस्या शान्तिसे हल करनी है या नहीं? जैसे बाहर-के विचारोंका यहाँपर आक्रमण हो सकता है, वैसे ही हमारे विचार भी बाहर जा सकते हैं। इसलिए हिम्मत रखो कि हम यहाँका विचार बाहर भेजेंगे। जैसे भगवान् बुद्धके अनुयायियोंने बाहर जाकर प्रेमसे विचारका प्रचार किया, उसी निष्ठासे काम करो और यह विश्वास रखो कि हम भूदान-यज्ञका विचार सर्वत्र फैलायेंगे। उसी निष्ठासे नये धर्म-चक्र-प्रवर्तन-का यह काम करो, तो हम दुनियाको आकार दे सकते हैं।

जैसे प्रलयमें सर्वत्र पानी ही पानी हो जाता है, तो भी मार्कण्डेय ऋषि अकेला तैरता रहता और दुनियाको बचाता है; वैसे ही आज जहाँ अणुबम, बागयुद्ध, चिन्तनके प्रवाह चल रहे हैं; विचार, वचन, शस्त्र, व्यापार आदिसे दुनियाको जीतनेकी कोशिश चल रही है; वहाँ इन सारे प्रलयके पानीमें जो देश मार्कण्डेय ऋषिके समान तैरेगा, वह दुनियाका नेता बनेगा! उसके हाथमें दुनियाका नेतृत्व आना लाजिमी है। मैं यह अभिमानसे नहीं, नम्रता

से कह रहा हूँ। जो सच बात है, वह उधर पड़ता है। मनु महाराजने भविष्य किया था

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

"इस देशमें जो महान् विचारक पैदा हुए या होंगे, उनसे सारी दुनियाके लोग अपने-अपने चरित्रकी शिक्षा लेंगे।" भाइयो, ऐसा मौका हमें मिला था, जब हमारा देश अहिंसाके जरिये स्वराज्य हासिल कर रहा था। आज भी हमारे देशमें ऐसे लोग हैं, जिनके हृदयमें सद्भाव है। थोड़ी हिम्मत और कल्पना-शक्ति रखो, तो आपके हाथोंमें दुनियाको आकार देनेकी शक्ति आ जायेगी। यह कोई भावना नहीं है, यह तो दुनियाको बचाना है। यह एक ऐसी महत्त्वाकांक्षा है, जो रखने लायक है। इसलिए यदि हम भूमिका मसला अहिंसक तरीकेसे हल कर सकेंगे, तो दुनियाको रास्ता दिखा सकेंगे।'

['त्रिवेणी' से]

इस प्रवचनका मूल विषय है—आजके युगमें अहिंसाका क्या महत्त्व है और भूमिकी समस्या सुलझानेमें इसका क्या योग हो सकता है। इसकी प्रतिपादन-शैलीमें देखा जा सकता है कि किस प्रकार एकरसताको भंग करनेका प्रयत्न किया गया है—विभिन्न दृष्टियोंसे अपने प्रश्नपर विचार किया गया है, सभी बातें तर्कसंगत हैं, बीच-बीचमें विचारोत्तेजक बातें हैं ['गांधीजीके जमानेमें अहिंसात्मक तरीका इस्तेमाल किया गया। इसमें कोई विशेषता नहीं है।'—'हम खुले तौरपर, बिना किसीके दबावके चुनाव कर सकें, इसीलिए भगवान् बापूको ले गया।'—'अगर आप हिंसाको मानते हैं, तो बापूका खून करनेवाला पुण्यवान् था—ऐसा कहना होगा।' आदि], उचित स्थलोंपर दृष्टान्तका सहारा लिया गया है। प्रस्तुत प्रवचन रेडियो-वार्त्ता नहीं है, पर रेडियो-वार्त्ताकी दृष्टिसे भी सफल समझा जायेगा, इसमें सन्देह नहीं।

अब वार्ताके अन्तके सम्बन्धमें विचार किया जाय। इसका महत्त्व प्रारम्भ और मध्यसे किसी प्रकार कम नहीं है। यह वार्ताका अन्त ही है, जिसकी पंक्तियाँ श्रोताके मनमें वार्ता सुननेके कुछ देर बाद तक गूँजती रहती है। सचमुच अन्त किसी वार्ताका बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। लेकिन इसे जितना महत्त्व मिलना चाहिए, उतना साधारणतः नहीं मिलता।

इस सम्बन्धमें सबसे पहली बात तो ध्यान देनेकी यह है कि वार्ताकी अन्तिम पंक्तियोंसे वार्ताकी समाप्तिका ज्ञान होना चाहिए, उन्हें सुनकर ऐसा न लगे कि वार्ता एकाएक समाप्त हो गयी, यह आगे भी चल सकती थी। 'डीलक्स ट्रेन—बनारस' शीर्षक वार्ताका यह अन्त देखिए

'लेकिन जो डिब्बा हमने देखा वह बड़ा विचित्र था। डिब्बेकी लम्बाई थी कोई ८० फुट। और इतने-से डिब्बेमें २४ मुसाफिरोंमें-से हरेकके लिए अलग-अलग कमरे थे। कमरोंकी दो कतारें थीं और बीचमें दो फुट चौड़ा रास्ता। कमरेमें उपलब्ध अनेक सुविधाओंकी चर्चाके बाद कमरेकी इन अचल वस्तुओंके सिवा पानी पीनेके सेलूलाइडके गिलास, कमोडका कागज, मासिककी डिब्बी, चार तौलिये और साबुन, ये वहाँकी चल सम्पत्ति थी। दुनियाके नवीनतम रेलके इस डिब्बेका नाम है डिप्लेक्स रूपट।'

[प्रसारिका, जुलाई-दिसम्बर १९५५]

यह वार्ता एकाएक समाप्त हो गई-जैसी लगती है। उपर्युक्त पंक्तियोंसे वास्तवमें वार्ताका अन्त नहीं होता। स्थान-परिचय-सम्बन्धी एक दूसरी वार्ताकी अन्तिम पंक्तियोंका एक ऐसा उदाहरण लिया जाय, जिससे वार्ताकी समाप्तिका परिचय मिले। 'यह राजस्थान है' वार्ताका यह अन्तिम अंश है :

'आज भी याद है चित्तौड़का वह गढ़, दिलवाड़ाका वह मन्दिर, अम्बरका वह दुर्ग और मेवाड़ी नारीत्वकी किरण-सी वह रानी।'

[आकाशवाणी प्रसारिका, अप्रैल-जून १९५६]

तथ्यप्रधान वार्ताओंके सम्बन्धमें यह पहले कहा जा चुका है कि उसकी मुख्य बातोंको अन्तमें दुहरा देना श्रोताकी स्मरण-शक्तिकी दृष्टिसे उपयोगी होता है।

जिन वार्ताओंका उद्देश्य श्रोताओंका सक्रिय सहयोग प्राप्त करना होता है, श्रोताओंको एक निश्चित दिशामें क्रियाशील बनाना होता है, उनके अन्तमें उस क्रियाशीलताका संकेत अपेक्षित है। आचार्य विनोबाका जो प्रवचन पहले उद्धृत किया गया है, उसके अन्तिम अंशमें इसे देखा जा सकता है।

अन्य प्रकारकी वार्ताओंके अन्तिम अंशोंको भी आकर्षक एवं प्रभावोत्पादक होना चाहिए। यह प्रभाव और आकर्षण किसी चुभती हुई उक्ति, किसी कविताकी पंक्ति, किसी महापुरुषके उद्धरण, किसी प्रश्न आदिसे उत्पन्न किया जा सकता है। उदाहरण-स्वरूप कुछ वार्ताओंके आकर्षक अन्त देखे जा सकते हैं.

पहला उदाहरण 'कवि सम्मेलनोंके कड़ुए मीठे अनुभव' शीर्षक वार्ताका है. 'जब मैंने बात शुरू की थी', तो सोचा था कुछ मीठे अनुभव सुनाऊँगा और कुछ कड़ुए, पर जब बात खत्म करनेका वक्त आया है, तब देखता हूँ कि कड़ुए अनुभव ही ज्यादा बता पाया हूँ। मीठे अनुभवकी बात तो इतनेमें ही समाप्त हो जाती है कि कवि-सम्मेलनमें बुलाया गया, कविताकी खूब वाह-वाही हुई, समुचित पारिश्रमिक दिया गया और घर लौट आया। इसमें कहनेकी क्या बात हुई ?

फ्रांसीसी कहानी लेखक मोपासांसे एक बार किसीने कहा कि आप जितनी कहानियाँ लिखते हैं उन सबमें बुरी औरतोंकी चर्चा रहती है, आप भली औरतोंके विषयमें कहानियाँ क्यों नहीं लिखते ?

मोपासांने कहा, भली औरतोंके बारेमें कोई कहानी नहीं होती।'

[आकाशवाणी प्रसारिका, अक्टूबर-दिसम्बर १९५७]

'देवदासी' शीर्षक वार्त्ताका अन्त इस प्रकार है :

'कौन है जो विदेशोंसे भारत आता है और इन मन्दिरोंके दर्शनकर चमत्कृत नहीं हो जाता ? पहला उल्लेख इस सम्बन्धमें कर्नल टाडका मिलता है। यहाँ आकर और मन्दिरके शिखरको देखकर उसने अपनी पुस्तकमें लिखा है—'शीतला माताके घाटसे चला तब दोपहर हो गया था। उसी समय आबूकी चोटी दृश्यमान हुई और मेरा हृदय आनन्दसे भर गया और उस ऋषिकी तरह मैं अनायास कह उठा, मैं पा गया, मैं पा गया।'

[रेडियो संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

'पुराणोंमें प्रतीक' वार्त्ताका यह अन्त है :

'विष्णुके अवतार भी प्रतीकात्मक हैं। उनके द्वारा पुराण लेखकोंने सृष्टिके युगोंकी सभ्यता और संस्कृतिके विकासके क्रमका वर्णन किया है। मत्स्य—जलमें रहनेवाले, कूर्म—जल और थल दोनोंपर रहनेवाले, नृसिंह—आधा पशु और आधा मनुष्य, परशुराम—जंगली मनुष्य, राम—मर्यादा-पुरुष, कृष्ण—पुरुषोत्तम, बुद्ध—ज्ञानी, और कल्कि—कलियुगका अन्त करनेवाला महापुरुष। क्या ये युगोंके विकासके प्रतीक नहीं हैं ?'

[रेडियो-संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

कविताकी पंक्तियोंसे वार्त्ता-समाप्तिका एक उदाहरण देखिए, वार्त्ताका शीर्षक है 'दोस्त' :

'आप ही बताइए, क्या आप ऐसे दोस्तोंसे घबराकर ऐसी जगह जाना चाहेंगे जहाँ कोई न हो। वक्ती तौरपर शायद आपका दिल घबराये, लेकिन फिर आपको मोमिनके साथ कहना ही पड़ेगा—

'ठानी थी दिलमें अब न मिलेंगे किसीसे हम।
फिर क्या करें कि हो गये लाचार जीसे हम॥'

[प्रसारिका, जुलाई-दिसम्बर १९५५]

इस उद्धरणोंसे स्पष्ट हो गया होगा कि वार्त्ताका अन्त किस प्रकार आकर्षक बनाया जा सकता है। प्रारम्भ और मध्यके सम्बन्धमें जो बात पहले कही गयी है, वही यहाँ भी दुहरायी जायगी कि वार्त्ताके अन्तके लिए भी कोई बँधे नियम नहीं है, यह भी वार्त्ताकारकी शक्ति एवं प्रतिभाके आधारपर अनेक रूपोंमें प्रस्तुत किया जा सकता है। किसी भी प्रकारसे हो, रेडियो-वार्त्ताका अन्त चुस्त और मनपर गहरी छाप छोड़नेवाला होना चाहिए, यही स्मरण रखना है। यह कहावत ठीक ही कही जाती है—'अन्त भला तो सब भला।'

रेडियो-वार्त्ताकी भाषा-शैली

आकाशवाणीके प्रतीक-चिह्नमें अंकित है—'बहुजनहिताय बहुजन-सुखाय।' प्रसारणकी दृष्टिसे विचार किया जाय, तो यह केवल आकाशवाणीका ही उद्देश्य नहीं, प्रसारण मात्रका उद्देश्य है। रेडियो सबकी कला है, यह सामूहिक प्रेषणीयताका माध्यम है। इसकी सफलता इसी बातमें है कि इससे अधिकाधिक लोगोंका मनोरंजन और कल्याण हो सके। रेडियो-वार्त्ताकी सार्थकता भी इसी बातमें है कि वह अधिकाधिक लोगोंतक पहुँच सके, और यह कार्य वार्त्तामें प्रयुक्त भाषापर ही निर्भर है। रेडियो-वार्त्ताके बनने-बिगड़नेका सारा उत्तरदायित्व भाषापर ही है। इस दृष्टिसे भाषाके प्रश्नपर गम्भीरतासे विचार करना प्रत्येक वार्त्ताकारका कर्त्तव्य हो जाता है।

रेडियो-वार्त्ता अधिकाधिक लोगोंकी समझमें आ सके, इसके लिए आवश्यक है कि वार्त्ताकी भाषा उन लोगोंकी भाषा हो, जिनके लिए वार्त्ता प्रसारित की जा रही है। यह बात कई स्तरोंपर ध्यान देनेकी है। सबसे पहला स्तर बहुत ही स्पष्ट है . हिन्दी-भाषियोंके लिए प्रसारित वार्त्ताकी भाषा हिन्दी ही होनी चाहिए, उसे हिन्दी-अंग्रेजी, हिन्दी-संस्कृत या हिन्दी-फारसीका मिश्रण नहीं होना चाहिए। यह बड़ी सीधी-सी बात है, पर इसपर हमारे यहाँ ध्यान नहीं दिया जाता। यह सर्वविदित है कि कितने कम हिन्दी-भाषी अंग्रेजी, संस्कृत या अरबी-फारसी जानते हैं, और किसी

ार्त्ताके प्रसंगमें इन भाषाओंके शब्दों, वाक्यों या उद्धरणोंके आनेसे उन्हें कितनी कठिनाई होती है, फिर भी अनेक वार्त्ताकार इनका व्यवहार अपनी ार्त्ताओंमें करते हैं। एक उदाहरण देखा जाय, वार्त्ताका शीर्षक है 'पुस्तकें जनसे मैंने सीखा' :

'गीतासे मेरा सर्वप्रथम परिचय बापूके अनासक्ति योग द्वारा ही हुआ। ;स रत्न-भण्डारमेंसे तीन श्लोक अपेक्षाकृत आदर्श रूप बनकर मेरे जीवनकी ;ठिनाइयोंमें अनेक बार सहायक हुए हैं।

पहला है दूसरे अध्यायका ५६वाँ श्लोक—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

दूसरा है उसी अध्यायका ७०वाँ श्लोक—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।
....
....

आजके भारतमें कोई ही शिक्षित व्यक्ति ऐसा होगा, जिसने विवेकानन्दके ाषणों, बापूकी आत्मकथा और श्री जवाहरलाल नेहरूकी आत्मकथा Autobiography] न पढ़ी हो और उनसे अपने विचारों और आदर्शोंके ार्माणमें प्रेरणा न पायी हो।

'Strength is life, weakness is death, strength is felity, life eternal, immortal; weakness is constant strain nd misery.'

'Weakness is the one cause of suffering. We ecome miserable, because we are weak. We lie, steal,

[प्रसारिका, जुलाई-दिसम्बर १९५५]

इस प्रश्नको सुलझाते समय केवल हिन्दी जाननेवाले श्रोताओंकी मानसिक स्थिति क्या हो सकती है, इसे सहज ही समझा जा सकता है। वार्ता हिन्दी में ही है, और हिन्दी जाननेवालोंके लिए ही है, यह तो मानना ही पड़ेगा। हिन्दी वार्ताओंमें अंग्रेजीके उद्धरण देना फ्रेंच या लैटिनके उद्धरण देनेसे किसी प्रकार कम नहीं है। यह नहीं है कि अनेक स्थानोंपर उद्धरण अनिवार्य हो जाते हैं, पर ऐसे स्थलोंपर अंग्रेजी या किसी भी विदेशी भाषाके कुछ उद्धरण न देकर उनके हिन्दी अनुवाद देना उचित कहा जायेगा। हाँ, यह संकेत कर दिया जा सकता है कि अनुवाद किस भाषासे दिये जा रहे हैं। संस्कृतके उद्धरण अवश्य ही दिये जा सकते हैं, पर साथ ही उनके हिन्दी अनुवाद दे देना श्रोताओंके लिए सुविधाजनक होगा।

लोकभाषाके शब्दों और उद्धरणोंके सम्बन्धमें भी यही बात कही जा सकती है। लोकभाषाके शब्दोंके व्यवहारसे भाषाकी व्यापकता सीमित होती है। भोजपुरीके ऐसे शब्दोंके व्यवहार जिन्हें केवल भोजपुरी क्षेत्रके लोग समझ सकते हों, दूसरे क्षेत्रोंके लोगोंके लिए बोधगम्य नहीं हो सकेंगे। इधर आंचलिक शब्दोंके व्यवहारकी ओर बहुत लोगोंका ध्यान जा रहा है, यह सच है कि बोलियोंके व्यवहारसे भाषामें ताजगी आती है, और भाषा जनजीवनके निकट पहुँचती है, लेकिन इस आंचलिकताकी भी एक सीमा है। जहाँ आंचलिकता भाषाकी बोधगम्यतामें बाधक होने लगती है, वहाँ

वह निश्चित रूपसे त्याज्य है। लियोनेल गैमलिन अपने यहाँकी रेडियो-वार्त्ताओंके सम्बन्धमें कहते हैं—'प्रसारणकर्त्ताकी अंग्रेज़ी सरलतम होनी चाहिए, उसे अधिकाधिक श्रोताओंके लिए बोधगम्य होना चाहिए। इसका तात्पर्य यह कि उसे बिलकुल स्थानीय नहीं होना चाहिए।' यह कथन अक्षरशः सत्य है। रेडियो-वार्त्ताका धरातल बहुत ही विस्तृत और व्यापक होना चाहिए, उसे अधिकसे-अधिक लोगोंके पास पहुँचना चाहिए; इसके लिए बोलियोंके व्यवहारसे बचना आवश्यक है। हाँ, जहाँ वार्त्ताकार एक अंचल-विशेषके लिए ही वार्त्ता प्रसारित कर रहा हो, वहाँकी बात दूसरी है।

अभी पहले कहा गया है, वार्त्ताकी भाषा उन लोगोंकी भाषा होनी चाहिए, जिनके लिए वह प्रसारित की जा रही हो। इसका अर्थ यह भी है कि वार्त्ताकी भाषा श्रोता वर्गके अनुरूप होनी चाहिए। वार्त्ताएँ विभिन्न वर्गोंके लिए प्रसारित की जाती हैं—सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए, ग्रामीण जनताके लिए, बच्चोंके लिए, स्कूलोंके छात्रोंके लिए, कालेजोंके युवकोंके लिए। इन सभी वर्गोंकी अपनी भाषाएँ होती हैं, वार्त्ताको समझनेकी अपनी सीमाएँ होती हैं। इनपर ध्यान देना वार्त्ताकारका कर्त्तव्य है। जिस भाषामें सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए वार्त्ता प्रसारित की जायेगी, उसीमें बच्चोंकी वार्त्ताएँ नहीं प्रसारित की जा सकती। कुछ वार्त्ताकार इस बातपर ध्यान देते हैं, कुछ नहीं देते। ध्यान नहीं देनेवालोंमेंसे एकका उदाहरण देखिए, 'ग्राम जगत्' के लिए प्रसारित 'जनताकी सुरक्षा' शीर्षक वार्त्ताकी ये पंक्तियाँ हैं :

'मनुष्य जिन अधिकारोंका उपयोग करता है, उनमेंसे अधिकतर समाजकी देन हैं। अध्यापक, मिल मालिक, पिता, राजा और जेलरको क्रमश छात्र, मजदूर, पुत्र, प्रजा और बन्दीपर अधिकार होते हैं। परन्तु न तो इन अधिकारोंका अस्तित्व चिरस्थायी है, न स्वरूप। समाजवादी व्यवस्थामें मिल-मालिक ही नहीं होता, निःसन्तान मनुष्यके लिए पिता शब्दका व्यवहार नहीं हो सकता, प्रजातन्त्रमें न राजा होता है, न राजाओंके अधिकार

हो सकते हैं। बहुतसे अधिकार कानून द्वारा प्राप्त होते हैं और कानून उन्हें छीन भी सकता है।'

['सारंग,' १ से १५ दिसम्बर १९५४]

अपने श्रोताओंकी सीमाओंपर ध्यान रखनेवाले वार्त्ताकारोंमेंसे भी एक-का उदाहरण देखा जा सकता है, 'ग्राम जगत्'के लिए प्रसारित 'कर्ज़का बोझ और उसका निवारण' शीर्षक वार्त्ताकी ये पंक्तियाँ हैं

'आज किसन दादाके यहाँ शादीकी धूमधाम मालूम होती है। कहते हैं, वह नागपुरसे गहने लाया है, कीमती कपड़े और ढेर भर बर्तन भी। और बहुत घूमधामसे मनायी जायेगी शादी। कहाँसे आया इतना पैसा? बेचारा यह छोटा-सा काश्तकार दो बैलोंसे इतना परिश्रम करता है, लेकिन कभी मालोमाल नहीं दीखता। पर शादीके लिए तो बहुत खर्चा कर रहा है। *कुछ तकावी मिली है कुआँ खोदनेके लिए, और सुनते हैं कि करोड़ी-*मल साहूकारसे कर्ज़ भी लिया है। शायद, इसी रकमसे यह सारी रोशनी हो रही है।'

['सारंग', १ से १५ जनवरी १९५३]

सामान्य शिक्षित व्यक्तियोंके लिए प्रसारित वार्त्ताओंमें भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उनमें ऐसे कठिन शब्द न आयें, जिन्हें श्रोता न समझ सकें। रेडियो-वार्त्ताकी भाषाका ऐसे धरातलपर रहना अपेक्षित है कि वह अधिकसे-अधिक लोगोंके लिए ग्राह्य हो सके। इस दृष्टिसे रेडियो-वार्त्तामें सुन्दर दीखनेवाले बड़े-बड़े शब्दोंका कोई मूल्य नहीं है। अनातोले फ्रांसने कहा था—'यदि आप समझ नहीं पाते, तो संसारके सुन्दरतम शब्द भी निरर्थक ध्वनियाँ हैं।' इसी सत्यको जेनेट डनवर दुहराते हैं—'वार्त्ता-में साहित्यिक शब्दावलियाँ अर्थहीन होती हैं।' रेडियो-वार्त्ताकारको ऐसी शब्दावलियोंसे बचना चाहिए, इसे सभी रेडियो-विशेषज्ञ स्वीकार करते हैं। बी० बी० सी०के प्रसिद्ध वार्त्ताकार जॉन हिल्टनके सम्बन्धमें एल्सन

चालके निकट रखते हुए भी उससे दूर रखनेका परामर्श देते हैं। जैनेट डनवरका ही विचार लिया जाय—'रेडियो-आलेखकी दृष्टिसे स्वाभाविक वार्त्ता, दैनिक व्यवहारकी भाषाकी मुहावरेदार और प्रामाणिक अभिव्यक्ति है, उसका अक्षरशः प्रस्तुतीकरण नहीं है।' एल्वन ऐण्ड डोरोथिया एल्वनके अनुसार, 'प्रतिदिनकी भाषाको निश्चित शब्दावलियों और भावनाओंके रूपमें तीव्र बना देना महान् प्रसारणकर्त्ताकी महत्त्वपूर्ण विशेषताओंमें है।' इस विशेषताकी उपलब्धिके लिए आवश्यक है कि वार्त्ताके शब्द और वाक्य सरल सुबोध होते हुए भी दैनिक व्यवहारके कारण बिलकुल घिसे-पिटे न हों, ऐसे घिसे-पिटे शब्दोंमे अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं होती; अज्ञेयजीने कहा ही है—'बासन अधिक घिसनेसे मुलम्मा छूट जाता है।'

बिलकुल बोलचालकी भाषाके व्यवहारसे रेडियो-वार्त्ताओंमें जो दुर्बलताएँ आती हैं, इनके सम्बन्धमे भी प्रसारणकर्त्ताओंने विचार किया है। उनके अनुसार 'अच्छा', 'आप समझते हैं' जैसे शब्दोंका अधिक व्यवहार वार्त्ताकी बोधगम्यतामें बाधक होता है। अतः वार्त्ताकारको इसपर भी ध्यान देना चाहिए।

बोलचालके निकट रहकर भी भाषा बोलचालकी दुर्बलताओंसे मुक्त रहे, उसमें शक्ति रहे, सरलता रहे, बोधगम्यता रहे, वह बोलनेमें सहज और सुविधाजनक हो, इन सभी दृष्टियोंसे इस पुस्तकमें पहले उद्धृत विनोबा भावेके प्रवचनोंके अंशोंका अध्ययन किया जा सकता है। हाँ, उन प्रवचनोंमें वक्ताकी बोलचालकी अपनी लय है, जो सभी स्थानोंपर परिलक्षित होगी। यह भी व्यक्तित्वका एक अंग है। प्रत्येक वक्ताकी अपनी लय होती है, उसपर ध्यान देना, उसके सहारे अपनी अभिव्यक्ति करना को अभिव्यक्त करना है, जो रेडियो-वार्त्ताके लिए अनि-

- स्पष्टतया यह स्पष्ट है कि रेडियो-वार्त्ताकी भाषा पुस्तकी-

एण्ड डोरोथियन एलनका कथन है—'वास्तवमें वे अपनी वार्त्ता लिखनेमें अथक परिश्रम करते थे—जिस साहित्यिक परम्परामें वे पले थे, उससे लड़ते हुए, लोकप्रिय भाषाकी खोज करते हुए, और 'अच्छी' अंग्रेजीको पीछे छोड़ते हुए।' जॉन हिल्टनका उदाहरण प्रत्येक रेडियो-वार्त्ताकारका आदर्श होना चाहिए। कठिन साहित्यिक शब्दोंका मोह छोड़कर ही कोई वार्त्ताकार सफल वार्त्ताकी रचना कर सकता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस दृष्टिसे 'अद्यावधि विकास हो रहा है' के स्थानपर 'अभी तक विकास हो रहा है' अधिक उचित समझा जायेगा।

शब्दोंकी चर्चा चल रही है, तो यहीं यह भी कह दिया जाय कि वार्त्ताकारको ऐसे शब्दोंके व्यवहारसे बचना आवश्यक होता है, जो समान उच्चारणके कारण अर्थबोधमें बाधक होते हैं। 'चीनी बच्चे'की अपेक्षा 'चीन देशके बच्चे' कहना अधिक अच्छा होगा। इसी प्रकार सुरुचिमें बाधक शब्दोंसे भी बचना उचित है। 'इतने सालोंसे' के बदले 'इतने वर्षोंसे' कहना प्रशंसनीय कहा जायेगा।

रेडियो-वार्त्ताकी भाषा-शैलीके सम्बन्धमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह स्मरणीय है कि उसका आधार भाषाका लिखित रूप नहीं, श्रव्य रूप होना चाहिए। इस दृष्टिसे भी मुद्रित निबन्धों और प्रसारित वार्त्ताओंमें अन्तर होता है। यह बात उदाहरणसे स्पष्ट हो जाएगी। जैसा पहले कहा जा चुका है, हमारे यहाँसे अधिकतर निबन्ध ही प्रसारित होते हैं, फलतः प्रसारित वार्त्ताओंमें ही हमें मुद्रित भाषाके अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। प्रस्तुत उदाहरण 'भारतकी पुरानी राजनीति' शीर्षक वार्त्ता-का है :

'यद्यपि आनुवंशिक राजपदका वर्णन ऋग्वेदमें भी मिलता है, परन्तु राजाका उत्तराधिकारी विनय, नियमबद्धता, वृद्धोपसेवा, विद्याप्राप्ति, सुसंगति, सत्यवादिता, धर्मप्रियता इत्यादि गुणोंसे विभूषित होनेपर ही राजा बन सकता था और किसीके राजपदपर अभिषिक्त होनेके लिए वैदिक काल-

रना तथा समितिकी और रामायणकाल तथा महाभारतकालमें पौरजान-
र संस्थाओंकी स्वीकृति अनिवार्य होती थी।'

[रेडियो संग्रह, अक्टूबर-दिसम्बर १९५३]

इस अंशमें केवल कठिन शब्द ही नहीं, बल्कि इसका वाक्य संगठन इस बातकी ओर संकेत करता है कि यह भाषाका भाषित रूप नहीं, लिखित रूप है, यह रूप बोलने और सुननेके लिए नहीं, लिखने और पढ़नेके लिए है। हम बोलते समय लम्बे-लम्बे वाक्योंका व्यवहार नहीं करते, मिश्र और संयुक्त वाक्योंसे बहुत कम काम लेते हैं, हमारे शब्द और वाक्य ऐसे होते हैं, जिनके बोलनेमें किसी प्रकारकी कठिनाई नहीं होती, और जिनको समझनेमें भी सुननेवालोंको मानसिक व्यायाम नहीं करना पड़ता। निबन्धोंमें भाषाका लिखित रूप भले ही चल जाय, रेडियो-वार्ताओंमें नहीं चल सकता। इसलिए वार्ताकारको इस ओर अवश्य ही ध्यान देना है, उसे भाषाके उच्चरित स्वरूपका आधार ग्रहण करना है। रेडियो-वार्ताकी रूप, अभिव्यंजना-शैली, वाक्य, शब्द, सबका हमारी बोलचालकी भाषाके निकट रहना अपेक्षित है। जैनेट डनबरके अनुसार, 'वार्ताका लेख लिखनेमें सामान्य वार्तालापकी लय बड़ी अच्छी पथ-निर्देशिका है।'

इस सम्बन्धमें एक बात ध्यान रखनेकी अवश्य है कि रेडियो-वार्ताकी भाषाको हमारी बोलचालकी भाषाके निकट रहना है, उसे बोलचालकी [illegible] नहीं हो जाना है। रेडियो-वार्ता और सामान्य वार्तालाप [illegible] है। रेडियो-वार्ता साहित्यिक कृति है, उसमें [illegible] चाहिए [illegible] [illegible] चाहिए, चुस्ती चाहिए। बोलचालमें शिथिलता होती है [illegible] [illegible] अधूरे वाक्य होते हैं, बात और शब्दोंकी [illegible] [illegible] 'अब,' 'तो,' 'हाँ,' 'अच्छा', [illegible] [illegible] होता है। रेडियो वार्ता [illegible]
[illegible]

एण्ड डोरोथियन एलनका कथन है—'वास्तवमें वे अपनी वार्त्ता लिखनेमें अथक परिश्रम करते थे—जिस साहित्यिक परम्परामें वे पले थे, उससे लड़ते हुए, लोकप्रिय भाषाकी खोज करते हुए, और 'अच्छी' अंग्रेजीको पीछे छोड़ते हुए।' जॉन हिल्टनका उदाहरण प्रत्येक रेडियो-वार्त्ताकारका आदर्श होना चाहिए। कठिन साहित्यिक शब्दोंका मोह छोड़कर ही कोई वार्त्ताकार सफल वार्त्ताकी रचना कर सकता है। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस दृष्टिसे 'अद्यावधि विकास हो रहा है' के स्थानपर 'अभी तक विकास हो रहा है' अधिक उचित समझा जायेगा।

शब्दोंकी चर्चा चल रही है, तो यहीं यह भी कह दिया जाय कि वार्त्ताकारको ऐसे शब्दोंके व्यवहारसे बचना आवश्यक होता है, जो समान उच्चारणके कारण अर्थबोधमें बाधक होते हैं। 'चीनी बच्चे'की अपेक्षा 'चीन देशके बच्चे' कहना अधिक अच्छा होगा। इसी प्रकार सुरुचिमें बाधक शब्दोंसे भी बचना उचित है। 'इतने सालोंसे' के बदले 'इतने वर्षोंसे' कहना प्रशंसनीय कहा जायेगा।

रेडियो-वार्त्ताकी भाषा-शैलीके सम्बन्धमें सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह *स्मरणीय है कि उसका आधार भाषाका लिखित रूप नहीं, श्रव्य रूप* होना चाहिए। इस दृष्टिसे भी मुद्रित निबन्धों और प्रसारित वार्त्ताओंमें अन्तर होता है। यह बात उदाहरणसे स्पष्ट हो जाएगी। जैसा पहले कहा जा चुका है, हमारे यहाँसे अधिकतर निबन्ध ही प्रसारित होते हैं, फलत: प्रसारित वार्त्ताओंमें ही हमें मुद्रित भाषाके अनेक उदाहरण मिल जायेंगे। प्रस्तुत उदाहरण 'भारतकी पुरानी राजनीति' शीर्षक वार्त्ताका है :

'यद्यपि आनुवंशिक राजपदका वर्णन ऋग्वेदमें भी मिलता है, परन्तु राजाका उत्तराधिकारी विनय, नियमबद्धता, वृद्धोपसेवा, विद्याप्राप्ति, सुसंगति, सत्यवादिता, धर्मप्रियता इत्यादि गुणोंसे विभूषित होनेपर ही राजा बन सकता था और किसीके राजपदपर अभिषिक्त होनेके लिए वैदिक काल-

की निर्जीव भाषा नहीं है, प्रत्युत सम्भाषणकी सजीव भाषा है। इसके लिए बड़ी ही प्राणवन्त शैलीकी अपेक्षा है, ऐसी शैली जिसके शब्द बोलते हों, चित्र-निर्माण करते हों, जो श्रोताओंको अपने सौन्दर्यके प्रति आकृष्ट न कर अपने पीछे छिपने भावों-विचारोंके प्रति आकृष्ट करते हों, जिसके वाक्योंमें गति हो, प्रवाह हो, लयात्मकता हो, सप्राणता हो। सर्जित शब्दों-की शक्तिपर आधारित ऐसी ही जीवनमयी भाषा-शैली रेडियो-वार्ताको सफल बना सकती है।

०

वालेके निकट रहते हुए भी उससे दूर रहनेका परामर्श देते हैं। जैसे इसपर भी विचार किया जाय—'रेडियो-भाषणकी दृष्टिसे स्वाभाविक भाषा, दैनिक व्यवहारकी भाषाकी मुहावरेदार और प्रामाणिक अभिव्यक्ति है, उसका अभाव अनुचित नहीं है।' एलन टिंड डोगेफिन इनके अनुसार, 'प्रतिदिनकी भाषाको विशिष्ट शब्दावलियां और भावनाओंसे स्वयं गौण बना देना महान् प्रसारणकर्ताओंकी महत्त्वपूर्ण विशेषताओंमें है।' इन विशेषताओंकी उपलब्धिके लिए आवश्यक है कि वार्ताके शब्द और वाक्य सरल सुबोध होते हुए भी दैनिक व्यवहारके कारण बिल्कुल घिसे-पिटे न हों, ऐसे घिसे-पिटे शब्दोंमें अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न करनेकी क्षमता नहीं होती, अंग्रेजोंने कहा ही है—'बहुत अधिक घिसनेसे मुलम्मा छूट जाता है।'

बिल्कुल बोलचालकी भाषाके व्यवहारमें रेडियो-वार्ताओंमें जो दुर्बलताएं आती हैं, इनके सम्बन्धमें भी प्रसारणकर्ताओंने विचार किया है। उनके अनुसार 'अच्छा', 'आप समझते हैं' जैसे शब्दोंका अधिक व्यवहार वार्ताकी बोधगम्यतामें बाधक होता है। अतः वार्ताकारको इसपर भी ध्यान देना चाहिए।

बोलचालके निकट रहकर भी भाषा बोलचालकी दुर्बलताओंसे मुक्त रहे, उसमें शक्ति रहे, सरलता रहे, बोधगम्यता रहे, वह बोलनेमें सहज और सुविधाजनक हो, इन सभी दृष्टियोंसे इस पुस्तकमें पहले उद्धृत विनोबा भावेके प्रवचनोंके अंशोंका अध्ययन किया जा सकता है। हां, उन प्रवचनोंमें वक्ताकी बोलचालकी अपनी लय है, जो सभी स्थानोंपर परिलक्षित होगी। यह भी व्यक्तित्वका एक अंग है। प्रत्येक वक्ताकी अपनी लय होती है, उसपर ध्यान देना, उसके सहारे अपनी अभिव्यक्ति करना अपने व्यक्तित्वको अभिव्यक्त करना है, जो रेडियो-वार्ताके लिए अनिवार्य है।

अब तकके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि रेडियो-वार्ताकी भाषा पुस्तको-

की निर्जीव भाषा नहीं है, प्रत्युत सम्भाषणकी सजीव भाषा है। इसके लिए बड़ी ही प्राणवन्त शैलीकी अपेक्षा है, ऐसी शैली जिसके शब्द बोलते हों, चित्र-निर्माण करते हों, जो श्रोताओंको अपने सौन्दर्यके प्रति आकृष्ट न कर अपने पीछे उछलते भावों-विचारोंके प्रति आकृष्ट करते हों, जिसके वाक्योंमें गति हो, प्रवाह हो, स्वाभाविकता हो, सजीवता हो। कथित शब्दों-की शक्तिपर आधारित ऐसी ही जीवनमयी भाषा-शैली रेडियो-वार्ताको सफल बना सकती है।

रेडियो-वार्त्ता-प्रसारण

रेडियो-वार्त्ताकार केवल लेखक ही नही, अभिनेता भी है। वार्त्ता-लेखनकी समाप्तिके साथ ही वह लेखकका दायित्व पूरा कर लेता है, और उसके ऊपर अभिनेताका उत्तरदायित्व आ जाता है। अब उसकी वार्त्ता नाटक बन जाती है, और वह उसका मुख्य अभिनेता हो जाता है। रेडियो-वार्त्ता एकपात्री नाटक है, जिसका मुख्य पात्र वार्त्ताकार होता है। इस नाटकमें वह किसी दूसरे व्यक्तिका अभिनय नही करता, स्वयं अपना अभिनय करता है, अपने व्यक्तित्वमें निहित विशेषताओको उद्घाटित करता है। इस अभिनयकी सफलतापर ही वार्त्ता-प्रसारणकी सफलता निर्भर है। अच्छीसे-अच्छी लिखी हुई वार्त्ता भी प्रसारण-कलाकी दुर्बलताके कारण बिलकुल प्रभावहीन और असफल हो जाती है। इसीलिए प्रसारणके पक्षपर भी ध्यान देना वार्त्ताकारके लिए आवश्यक है। जैसे नाटककी सफलता रंगमचपर सिद्ध होती है, उसी प्रकार रेडियो-वार्त्ताकी सफलता स्टूडियोमें माइक्रोफोनपर। वार्त्ताकार किस प्रकार माइक्रोफोनपर अपना स्वाभाविक, विश्वसनीय और प्रभावोत्पादक अभिनय प्रस्तुत करे, इस विषयसे वार्त्ताकारको परिचित होना चाहिए।

यह विचित्र बात ज्ञात होती है कि जहाँ रगमंचीय या रेडियो-नाटकके अभिनेताके लिए वर्षोंके अभ्यास और प्रशिक्षणकी आवश्यकता समझी जाती है, वहाँ सामान्य वार्त्ताकार एक दिनका ही नही, एक बारका अभ्यास भी

अनावश्यक मानता है। प्रोड्यूसर दोपहरमें अपने वार्ताकारसे टेलीफोनपर कहता है—'कृपया शामको एक-डेढ़ घण्टे पहले आ जाइए, तो रिहर्सल हो जायगा।' उसे उत्तर मिलता है—'रिहर्सलकी क्या ज़रूरत है ? मैंने पढ़कर देख लिया है, सब ठीक है। मैं १५ मिनट पहले आ जाऊँगा।' यह तो नये वार्ताकारोंकी बात है, पुराने वार्ताकार कहेंगे, 'मुझे रिहर्सलकी क्या ज़रूरत, मैं तो पाँच वर्षोंसे वार्ताएँ प्रसारित करता आ रहा हूँ' [काश, उन्हें पता होता कि पाँच वर्षोंसे उनकी वार्ताएँ कोई सुनता भी आ रहा है या नहीं।] और प्रसारणके निश्चित समयसे दो-चार मिनट पहले स्टूडियोमें आ जायेंगे। ऐसी स्थितिमें आकाशवाणीसे प्रसारित वार्ताएँ अनाकर्षक और प्रभावहीन होती है, तो इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। वार्ता-प्रसारणके पहले रिहर्सलकी अनिवार्यताके सम्बन्धमें जॉन एस० कार्लाइलका यह विचार उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा—'रेडियो-वार्ता-प्रसारणके कुछ ही मिनट पहले माइक्रोफोनके सामने पहली बार किसी भी व्यक्तिको नहीं जाना चाहिए, वार्ताकारको रेडियोका अनुभव पहलेसे कितना भी अधिक क्यों न हो। प्रसारण संस्थाएँ वार्ता-प्रसारणके पहले हमेशा ही माइक्रोफोन रिहर्सलके लिए एक समय निश्चित करती हैं। उसमें बिताये गये समयका पुरस्कार वार्ताकार और श्रोता, दोनोंको ही मिलता है।'

रिहर्सलसे कितनी परेशानियोंकी बचत हो जाती है, यह रेडियोसे सम्बद्ध व्यक्ति ही जानते हैं। इस सम्बन्धमें आगे कुछ चर्चा करनेके पहले अपना एक मनोरंजक अनुभव प्रस्तुत करनेकी इच्छा होती है। कॉलेजके एक प्राध्यापक पहली बार एक वार्ता प्रसारित करने आये—निश्चित समयसे तीन-चार मिनट पहले। और कुछ कहनेका समय था नहीं, स्टूडियोमें पहुँचकर मैंने इतना कह दिया कि 'ठीक समयपर दूसरे स्टूडियोसे एनाउन्सर आपका नाम एनाउन्स करेंगे, और उसके बाद आपके सामने दीवारपर घड़ीके नीचेवाली बत्ती जलेगी, तब आप अपनी वार्ता शुरू करेंगे। और हाँ, वार्ता समयसे खत्म कर दीजिएगा।' समय हो गया था, और मैं

बूथ [स्टूडियोकी बगलका छोटा-सा कमरा, जिसमें एनाउन्सर, प्रोड्यूसर आदि बैठते हैं] में चला गया, लेकिन मुझे लग रहा था कि वार्त्ताकारने मेरी बातें सुनी नहीं हैं, क्योंकि वे मानसिक घबड़ाहटकी स्थितिमें थे। दूसरे स्टूडियोसे एनाउन्सरने घोषणा की—'अब......................की वार्त्ता सुनिए। श्री.................. ....।' अपना नाम सुनायी पड़ा नहीं कि वार्त्ताकारने वार्त्ता शुरू कर दी। मैंने देखा, उनका मुँह चल रहा है, यद्यपि उनकी आवाज मुझे नहीं मिल रही थी, क्योंकि मुझे बूथमें कण्ट्रोल रूम [जहाँ इंजीनियर बैठते हैं, और जहाँसे वे स्टूडियो आदिका संचालन करते हैं] से फ्लिक [रोशनीका वह संकेत, जिससे यह ज्ञात होता है कि अब यह स्टूडियो काम कर रहा है, और यहाँसे कार्यक्रम प्रसारित किया जाय] नहीं मिला था। मुझे जब फ्लिक मिला, तो मैंने उनके स्टूडियोमें फ्लिक दिया, घडीके नीचेकी लाल बत्ती जल उठी। उस समय वार्त्ताकार अपने किसी वाक्यके बीचमें थे, श्रोताओंने भी उन्हें वहींसे सुना होगा। वार्त्ता सुनते हुए मैं सोच रहा था कि सम्भव है, वार्त्ताकार निश्चित समयसे आगे बढनेकी कोशिश करें, उस समय उनकी वार्त्ताको किसी अच्छी जगहपरसे काट देनेके लिए तैयार रहना चाहिए। वार्त्ताकार वार्त्ता पढते जा रहे थे, उनकी आवाज बतला रही थी कि उनके भीतर घबड़ाहट बहुत अधिक है। मैंने घडी देखी, अभी तीन मिनट बाक़ी थे। वार्त्ताकारको भी शायद समय-की याद आयी, उन्होंने भी सिर उठाकर सामनेकी बड़ी घड़ी देखी, फिर सहसा चुप हो गये—वार्त्ताके मध्यमें ही। मैं चौंक गया कि यह क्या बात हो गयी। सामने देखता हूँ, तो वार्त्ताकार शान्त भावसे कुर्सीपर बैठे हैं। लाचार होकर मैंने स्टूडियोका फ्लिक ले लिया। स्टूडियोमें आकर मैंने पूछा—'अभी तो तीन मिनट थे, आप बीचमें ही क्यों चुप हो गये।' उन्होंने कहा—'आपने सामने यह लाल बत्ती दिखला दी, तो मैं आगे कैसे पढ़ूँ?' मैं समझ गया, लाल बत्ती सब जगह रुकनेका संकेत है, वार्त्ताकारने उसे यहाँ भी यही समझा।

रिहर्सलसे केवल इस तरहकी सामान्य बातोंकी ही जानकारी नहीं हो जाती, बल्कि और भी अनेक सुविधाएँ होती हैं। नये वार्ताकारको यह ज्ञान नहीं होता कि उसे किस गतिसे वार्ता प्रसारित करनी है; अपने घरपर जिसे वह दस मिनटकी वार्ता समझता है, वह स्टूडियोकी दृष्टिसे पन्द्रह मिनटकी वार्ता हो जाती है, उसे काट-छाँटकर दस मिनटकी सीमामें बाँधनेका काम रिहर्सलमें ही हो पाता है। इसके अतिरिक्त उसे इस बातकी भी जानकारी मिलती है कि वह आलेखके पन्नोंको किस प्रकार उठाये और रखे कि उनसे खड़खड़ाहट न हो, वह माइक्रोफोनसे कितनी दूरपर बैठे, उसकी आवाज कितनी ऊँचाईपर रहे, वह वार्ता किस प्रकार प्रसारित करे, किन शब्दोंपर जोर दे, आदि। रिहर्सलकी उपयोगिता निःसन्दिग्ध है, उसके लिए रेडियो-अधिकारियोंका आमन्त्रण स्वीकार करना, और आमन्त्रण न मिलनेपर उसके लिए स्वयं आग्रह करना प्रत्येक वार्ताकारका कर्त्तव्य है।

अब प्रसारणकी कुछ अपेक्षित विशेषताओंपर विचार किया जाय। वार्ता प्रसारित करते समय साधारणत दो कठिनाइयाँ वार्ताकारके सम्मुख आती हैं। पहली कठिनाई यह है कि अनेक वार्ताकारोंको माइक्रोफोनका भय होता है। माइकके सामने आते ही उनमें घबड़ाहट आ जाती है। सम्भवत इसका कारण यह है कि वे सोचते हैं, अमुक-अमुक व्यक्ति, मेरे अमुक प्रतिद्वन्द्वी मेरी वार्ता सुनते होंगे, यदि वार्ता अच्छी नहीं हुई तो लोग क्या कहेंगे, मेरे प्रति क्या-क्या धारणाएँ बनायेंगे। दूसरी कठिनाई यह है कि वार्ताकारका प्रसारण निर्जीव और प्राणहीन हो जाता है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि वार्ताकारके सामने स्टूडियोमें दूसरा कोई नहीं रहता, जिससे वह वार्ता निवेदित करे और जिसकी प्रतिक्रियासे उसकी वाणीमें सजीवता आये। ऐसी स्थितिमें वार्ताकारके यन्त्रवत् हो जानेका भय रहता है, इसका संकेत हम पहले ही कर आये हैं। इस भयको दूर करना, वार्ताकारकी वाणीमें जीवन ले आना प्रसारण कलाकी सबसे बड़ी अपेक्षा है। ऊँवेद इनवर कहते हैं—'वास्तवमें जिस वस्तुका मूल्य है, वह यह है

कि आपकी आवाजमें जीवन हो। यह कुछ ऐसा काम है, जिसे कोई भी प्रोड्यूसर आपके लिए नहीं कर सकता। यह आपसे कह सकता है कि लाउड स्पीकरपर आप बिलकुल सपाट अथवा निर्जीव लगते हैं, और आपकी वाणीमें कुछ जीवन लानेका प्रयत्न कर सकता है। लेकिन यह टेकनिकल बात नहीं है, यह बिलकुल मनोवैज्ञानिक चीज है। इसका समाधान आप स्वयं अपनेसे ही कर सकते हैं।'

जिन दो कठिनाइयोंकी ओर संकेत किया गया, दोनों ही मनोवैज्ञानिक हैं, और इनका समाधान भी मनोवैज्ञानिक ही हो सकता है। सभी अनुभवी प्रसारणकर्त्ताओंने इनका एक ही समाधान दिया है कि वार्त्ताकार वार्त्ता प्रसारित करते समय अपनी मानसिक दृष्टिके सम्मुख अपने किसी प्रिय व्यक्ति, परिचित अथवा सम्बन्धीका चित्र रखे, वह यह अनुभव करे कि वह निर्जीव माइकमें न बोलकर अपने प्रिय व्यक्तिसे ही बातें कर रहा है। जैनेट डनवर यही परामर्श देते हैं। इसके द्वारा वार्त्ताकारकी वाणीमें सजीवता आ सकती है। जॉन एम० कार्लाइल कहते हैं—'वार्त्ताकार लाउड स्पीकरके सामने अपने किसी परिचित व्यक्तिको चित्रित करना अपने लिए उपयोगी समझ सकता है।' एल्वन ऐण्ड डोरोथियन एलन इसी विचारका समर्थन करते हैं—'अपने सन्देशको मानवीय बनानेके लिए अनेक प्रसारण-कर्त्ताओंको माइक्रोफोनके दूसरे छोरके मानसिक चित्रकी आवश्यकता होती है : वे केवल माइक्रोफोनमें ही नहीं बोल सकते, उसके परेकी भी सोचते हैं।'

प्रसिद्ध वार्त्ताकारोंके अनुभव इस मनोवैज्ञानिक समाधानकी सत्यताको सिद्ध करते हैं। 'गुड लिसनिंग' पुस्तकमें दिये गये कुछ अनुभव इस प्रकार हैं. जे० बी० प्रीस्टली अपने श्रोताओंको चार-चार या पाँच-पाँचकी गोष्ठियोंमें कल्पित करते हैं, जिन्हें वे अपनी बात सावधानीपूर्वक समझाना चाहते हैं। डेसमण्ड मेकार्थी अपने हाथको इस प्रकार हिलाते हैं, जैसे वे अपने सामने बैठे हुए व्यक्तिको अपनी बातें समझा रहे हों। वालफर्ड डेविस अपने

किसी एक मित्रकी कल्पना करते थे। ए० जे० एलन अनुभव करते थे कि वे अपने घरमें अलावके सामने बैठे अपने किसी आत्मीयसे अपनी साहसिक कहानियाँ कह रहे हों। इन प्रसारणकर्त्ताओंके अनुभवोंका उपयोग कोई भी वार्त्ताकार कर सकता है, यों यह सरल काम नहीं है। एलनके ही शब्दोंमें, मुद्रित आलेखको स्वाभाविक लगनेवाली शैलीमें पढ़नेका प्रयत्न करते समय ऐसा मानसिक चित्र अपने सम्मुख स्पष्ट रखना कोई आसान काम नहीं है, और अनेक प्रसारणकर्त्ता अनुभव करते हैं कि वे ऐसा नहीं कर सकते, फल यह होता है कि वे इस बातका आभास दे देते हैं कि वे केवल लिखित शब्दोंकी ही रक्षा कर रहे हैं। फिर भी वार्त्ताकार मानसिक भय और निर्जीवतासे बचनेके लिए इस दिशामें प्रयत्न कर सकता है।

व्यक्तित्वके प्रश्नकी चर्चा पहले वार्त्ता-लेखनके प्रसंगमें की जा चुकी है, वार्त्ता-प्रसारणके प्रसंगमें उसका और अधिक महत्त्व है। सबकी बोलनेकी अपनी शैली होती है, सबकी अपनी आवाज़ होती है, और इन अपनी विशेषताओं, दूसरे शब्दोंमें अपनी वैयक्तिकताकी अभिव्यक्ति रेडियो-प्रसारणमें होनी चाहिए। हाँ, यह ध्यान रखनेकी बात अवश्य है कि शब्दोंके उच्चारण शुद्ध हों। माइक्रोफोनकी यह विशेषता कही जाती है कि वह बड़ा ही सूक्ष्मग्राही होता है, और उच्चारणकी साधारण त्रुटियोंको भी बढ़ा-चढ़ाकर श्रोताओंके सामने उपस्थित करता है। इसलिए वार्त्ताकारको अपने उच्चारणपर अवश्य ही ध्यान रखना है। हिन्दीमें तो उच्चारणकी कोई कठिनाई नहीं है, फिर भी बहुत लोग शुद्ध उच्चारण नहीं करते। यदि ह्रस्व और दीर्घ मात्राओंके उच्चारणपर ध्यान दिया जाय, श और स, र और ण या ड़, व और ब—जैसे कुछेक वर्णोंके अन्तरको स्पष्ट जाय, उच्चारणमें त्रुटियाँ नहीं हो सकतीं। दूसरी बात ध्यान देनेकी यह है कि वार्त्ताकारके उच्चारण स्पष्ट और आवाज़ बिलकुल साफ हो, जिससे श्रोताओंको वार्त्ताकारकी बातें समझनेमें किसी प्रकारकी

कठिनाई न हो। जैसा पहले कहा जा चुका है, वैयक्तिकता सफल रेडियो-वार्ताकी पहली शर्त है।

इन दोनों बातोंपर ध्यान रखते हुए अपनी वैयक्तिकताकी रक्षा और उसकी सफल अभिव्यक्ति रेडियो-वार्तामें बहुत ही आवश्यक है। पी० पी० एकरस्ले कहते हैं, 'व्यक्तित्व स्वाभाविक भाषणका एक अंग है। यदि किसी व्यक्तिके स्वरको अस्त-व्यस्त ढंगसे भी बोलने दिया जाय, बशर्ते कि वह समझमें आने लायक हो, वह भाषणके उस काट-छाँटवाले उच्चारणसे अधिक मनोरंजक होगा, जो नीरसताको और अधिक स्पष्ट कर देता है।' इसीलिए सभी रेडियो-विशेषज्ञ वैयक्तिकताकी रक्षापर ज़ोर देते हैं। उनके अनुसार, वार्ताकारको बोलनेकी शैलीमें किसी दूसरेके अनुकरणकी आवश्यकता नहीं है। जैसा कि प्रसिद्ध वार्ताकार एलिस्टेयर कूकने कहा है, 'अच्छे प्रसारणमें अपनेको स्वीकार करना ही सबसे बडी बात है।' सब-गुण वार्ताकारका प्रयत्न यही होना चाहिए कि वह जो है, वहीं रहे, दूसरेके व्यक्तित्वको अपने ऊपर आरोपित न करे। फिर भी उसे प्रसारणकी अपेक्षाओं, जिनकी चर्चा आगे की जा रही है, की ओर अवश्य ही ध्यान देना चाहिए।

वार्ता प्रसारित करते समय वार्ताकारकी सबसे बडी सम्पत्ति है उसकी आवाज। यह आवाज कैसे स्पष्ट, स्वस्थ, प्रभावशाली और श्रुतिप्रिय हो, यह एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय है। लियोनेल गैमलिन इसके लिए तीन मुख्य बातें बतलाते हैं—सही ढंगसे साँस लेना, साफ-साफ बोलना और लयात्मकता। पहली दोनों बातोंके लिए गहरी साँस लेनेके व्यायाम और मुँहको पूरा खोलने तथा मुखके दूसरे अवयवोंसे काम लेनेके सतत अभ्यासकी आवश्यकता होती है। गैमलिनके ही शब्दोंमें, 'मुँह, तालु और जबड़ेसे पूरा काम लेनेके साथ ही बोलनेकी गति उचित रखनेसे ऐसी स्पष्ट अभिव्यक्ति हो सकती है, जो किसी भी श्रोता, चाहे वह दैनिक जीवनमें हो या प्रसारणमें, को सन्तुष्ट कर सकती है।'

भाषणमें लयात्मकता अनिवार्य है। इसके अभावमें भाषणमें जीवन नहीं होता, वह यन्त्रवत् हो जाता है। भाषा भावों और विचारोंका बड़ा लचीला माध्यम है। जैसे भाव और विचार होते हैं, वैसा ही भाषाका प्रवाह होता है, वैसी ही उसकी गति होती है। भावना और अनुभूति ही भाषाको जीवन देती है, यह जीवन जब वक्ताकी वाणीमें परिलक्षित होता है, तभी हम कहते हैं कि उसमें लयात्मकता है, उसमें सजीवता है। भावनाओं और विचारोंके अनुरूप बोलनेकी शैलीमें परिवर्तन होते रहनेको ही हम लयात्मकता कहते हैं। गैमलिन कहते हैं, 'शब्द जैसे वक्ताके विचारोंकी कारके लिए पेट्रोल है, वैसे ही लयात्मकता वह तेल है, जो उस गाड़ीको चिकना रखता है। यदि प्रसारण प्रेषणीयता है—आनन्दके लिए—तो प्रसारणकर्त्ताके लिए यही पर्याप्त नहीं है कि वह अपनी बात कह दे, बल्कि *यह भी कि वह श्रोताको आन्दोलित करे। यह लयात्मकता* ही है, जो उसे यह काम प्रभावपूर्ण ढंगसे करनेमें समर्थ बनाती है।'

जहाँ भाषणमें लयात्मकता नहीं होती, वहाँ एकरसता आ जाती है, वक्ता एक ही शैलीमें प्रारम्भसे लेकर अन्त तक बोलता है। और, प्रसारणमें एकरसतासे बढ़कर दूसरी खतरनाक वस्तु नहीं होती। इस दृष्टिसे प्रसारणकी वह शैली, जिसमें एक निश्चित क्रमसे उतार-चढ़ाव रहे, त्याज्य है।

भाषणमें लयात्मकता विविधताकी जननी है, इससे वार्त्ताका आकर्षण बढ़ता है। भाषणमें लयात्मकता ले आनेके लिए प्रसिद्ध वक्ता डेल कार्नेगीने चार उपाय बतलाये हैं: [१] मुख्य शब्दोंपर जोर देना, और गौण शब्दोंको दबा देना, [२] आवाजकी ऊँचाईमें परिवर्तन, [३] बोलनेकी गतिमें परिवर्तन और [४] मुख्य विचारोंके पहले और बादमें रुकना।

दूसरे उपायके अतिरिक्त सभी उपाय रेडियो-वार्त्ताके लिए भी सही ही हैं। रेडियो-वार्त्तामें आवाजमें अधिक परिवर्तन न सम्भव है, न अपेक्षित ही। माइक्रोफोनकी सीमा होती है, वह सूक्ष्मग्राही होनेके कारण जोरकी

आवाजको विकृत कर दे सकता है। इसके लिए बोलचालकी सामान्य आवाज ही उचित है। वार्त्ताकार पूछते हैं, वे वार्त्ता प्रसारित करते समय कितने जोरसे बोलें। इस सम्बन्धमें उन्हें स्मरण रखना है कि रंगमंच और स्टूडियोमें, प्रत्यक्ष भाषण और रेडियो-वार्त्तामें अन्तर होता है। प्रत्यक्ष भाषणमें वक्ता एक समूहको सम्बोधित करता है, जबकि रेडियो-वार्त्तामें वह एक या अधिकसे-अधिक चार-पाँच व्यक्तियोंको। यही कारण है कि रेडियो-वार्त्तामें आत्मीयताकी शैली, आत्मीयताके स्वरकी आवश्यकता होती है। जॉन एस० कार्लाइल कहते हैं; 'बड़ी सभाओंमें भाषण देते समय बोलनेकी आत्मीय शैली अनावश्यक है। माइक्रोफोनके सामने आवाजकी भाषणवाली ऊँचाईका कोई स्थान नहीं है।' इसी प्रकार दो-चार व्यक्तियोंके सामने प्रत्यक्ष रूपसे बोलने और रेडियोसे बोलनेमें भी अन्तर है। एल्कन ऐण्ड डोरोथियन एलनका विचार है—'एक ही कमरेमें आपके साथ बैठकर कूक और प्रीस्टली आपसे उसी प्रकार बातें नहीं करेंगे, जिस प्रकार वे रेडियोपर करते हैं। उनका ढंग आपकी प्रतिक्रियाओंके प्रति ग्रहणशील रहेगा, सम्भवतः वह कम नाटकीय और आधिकारिक होगा। उनके शब्द मूलतः एक ही हो सकते हैं, लेकिन उनकी तीव्रता कम होगी।' तात्पर्य यह कि वार्त्ताकारकी आवाज उसकी सामान्य वार्त्तालापकी आवाजसे कुछ भिन्न होती है। लियोनेल गैमलिन कहते हैं, 'इस देशके सभी प्रथम श्रेणीके प्रसारणकर्त्ता नीची आवाजमें बोलते हैं, जो सामान्य वार्त्तालापकी आवाजसे कुछ ऊँची होती है।'

डेल कार्नेगीके बतलाये गये अन्य उपायोंका उपयोग रेडियो-वार्त्ताकारों द्वारा होना चाहिए। मुख्य शब्दोंपर जोर देनेसे केवल बोलनेकी शैलीमें ही विविधता नहीं आती, बल्कि विचारोंकी अभिव्यक्ति भी सशक्त होती है। बोलनेकी गतिके सम्बन्धमें याद रखना है कि बहुत तेजीसे बोलनेमें श्रोताओंको वार्त्ता समझनेमें कठिनाई होती है। इसके विपरीत गति बहुत धीमी रहनेसे लगता है, जैसे वार्त्तामें जीवन ही नहीं है। इसलिए

वार्त्ता-प्रसारणमें गतिका मध्यम मार्ग उचित हो सकता है, हाँ, यह मध्यम मार्ग भी सदा एकरस न रहे, उसमें सदा परिवर्तन होता रहे, यह आवश्यक है। इसी प्रकार उचित स्थलोंपर रुकना, कहीं-कहीं क्षणिक शान्ति, आदि भी विविधताके लिए आवश्यक है।

वार्त्ता-प्रसारणमें वार्त्ताकारोंको अपनी स्वभावगत दुर्बलताओंसे भी बचना जरूरी है। मेरे एक मित्र हैं, जो हर वाक्यके बाद कहते हैं—'समझे न ?' जब वे कहने लगते हैं—'मैं उनके यहाँ खाना खाने गया था, समझे न ? बहुत अच्छा खाना खिलाया, समझे न ?' तो कहनेका मन होता है—'नहीं समझे।' बोलनेकी शैलीमें भी लोगोंकी ऐसी आदतें होती हैं, जैसे कुछ लोग वाक्यके पहले शब्दपर बहुत जोर देते हैं, कुछ लोग अन्तिम शब्दपर। कुछ लोग हैं, जो वाक्यकी अन्तिम क्रियाओंको दूर तक खींच ले जाते हैं—'जानता हूँ—ऊँ-ऊँ। वे लोग आये थे—ए-ए।' ऐसी आदतें माइक्रोफोनपर बड़ी स्पष्ट परिलक्षित हो जाती हैं, और इनसे बचना सफल वार्त्ताकारका कर्त्तव्य है।

नियमोंको खण्डित करनेके बाद भी सफल समझे गये हैं। ऐसे तीन व्यक्तियोंकी चर्चा सोमनाथ चिबने की है। पहला है हिटलर, जिसे 'रेडियो-का मौलिक कलाकार' कहा जाता है। वह आवेशमें इतने जोरसे चिल्लाता था कि लगता था, रेडियो-सेट खण्ड-खण्ड हो जायेगा, फिर भी सुननेवाले सुननेको सदा उत्सुक रहते थे। दूसरा नाम चर्चिलका है, जो अपनी वार्त्तामें अध्ययनपूर्ण साहित्यिक शब्दावलियोंका व्यवहार करते हैं। तीसरे थे गांधीजी, जिनके शब्दों और शैलीकी कलाहीनता ही जिनकी कला थी। ये वार्ताकार प्रसारणके नियमोंके अपवाद हैं अवश्य, लेकिन मुझे लगता है कि उनकी सफलता प्रसारणके इस सबसे बड़े नियमकी सत्यताको सिद्ध करती है कि रेडियो-वार्त्तामें व्यक्तित्व सबसे मुख्य तत्त्व है। जहाँ व्यक्तित्व महान् है, वहाँ नियमोंका पालन किये बिना ही वार्त्तामें आकर्षण आ जाता है। सामान्य व्यक्तित्वोंके लिए नियमोंका पालन आवश्यक है, इसमें सन्देह नहीं।

○

रेडियो-वार्त्ता और प्रो० वर्ननके निष्कर्ष

अब तकके विवेचनसे यह स्पष्ट है कि रेडियो-वार्त्ताकारका सबसे मुख्य कार्य, अपने लेखन एवं प्रसारणके द्वारा, अपनी वार्त्ताको श्रोताओंके लिए सहज-ग्राह्य बनाना है। लन्दन विश्वविद्यालयके प्रो० पी० ई० वर्ननने १९५० में रेडियो-वार्त्ताओंकी बोधगम्यताके सम्बन्धमें अनुसन्धान-कार्य किया था। उनके निष्कर्ष बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं। हमने अब तक जो विवेचन किया है, उसमें इन निष्कर्षोंका सहारा यथास्थान लिया गया है। रेडियो-वार्त्ता-सम्बन्धी मुख्य बातोंको रेखांकित करनेके उद्देश्यसे हम अन्तमें प्रो० वर्ननके कुछ निष्कर्षोंको उद्धृत कर रहे हैं

[१] वार्त्ताकी बोधगम्यताके लिए उसके विषयका रोचक होना जरूरी है। परीक्षाके लिए जो वार्त्ताएँ प्रसारित की गयी थीं, उनमें कई उस समयकी सामयिक घटनाओं और विज्ञानसे सम्बन्धित थीं, और उनमें ऐसे बहुतसे शब्द और विचार थे, जिन्हें ध्यानसे सुननेकी आवश्यकता थी, फिर भी श्रोताओंने उन्हें समझा।

[२] जिन वार्त्ताओंमें आधे दर्जनसे कम मुख्य बातें होती हैं, वे समझनेमें आसान होती हैं। एक मुख्य बातकी व्याख्या और विस्तारमें वार्त्ताकार एकसे दो मिनटका समय लगाता है।

[३] बोधगम्यताके लिए पुस्तकीय-गद्य-शैलीकी अपेक्षा सहज एवं सजीव शैली अनिवार्य होती है।

[४] जो विचार भाव मात्र [abstract] हैं, उन्हें दृष्टान्तोंसे सम-
झाना जरूरी है, हाँ, यह ध्यान रखते हुए कि श्रोता मूल विचारोंके साथ
दृष्टान्तका सम्बन्ध मिलाता रहे, और मूल विषयकी अपेक्षा दृष्टान्तोंपर ही
अधिक ध्यान न दे ।

[५] जिन वार्ताओंमें विचारोंका विकास तर्कसंगत रीतिसे नहीं होता,
वे सहज बोधगम्य नहीं होतीं ।

[६] कम बोधगम्य वार्तायें श्रोताओंमें अधिक ज्ञानका अनुमान कर
लेती हैं ।

[७] वार्ताको बोधगम्य बनानेके लिए मुख्य-मुख्य बातोंपर विशेष ज़ोर
देना जरूरी है ।

[८] साहित्यिक शब्दावलियोंसे वार्ताकी बोधगम्यतामें बाधा पड़ती है।

[९] कठिन शब्दोंके बहुत अधिक होनेसे भी बोधगम्यतामें बाधा
होती है ।

[१०] संयुक्त और मिश्र वाक्योंसे पूर्ण लम्बे-लम्बे वाक्य भी समझने-
मे कठिन होते हैं ।

[११] बहुत अधिक वार्तालापात्मक शैलीसे भी बोधगम्यतामें बाधा
पड़ती है ।

[१२] वार्ता-प्रसारणके समय बोलनेकी गति तेज होनेसे भी बोधगम्यता
कम होती है ।

इनके आधारपर यह सहज ही कहा जा सकता है कि रेडियो-वार्ताकी
विशेषताएँ हैं : सरलता, स्वाभाविकता एवं सुसंगठन । इन्हें अपना लक्ष्य
बनाकर कोई भी रेडियो-वार्ता सफल होगी, इसमें सन्देह नहीं ।

उद्धृत रचनांशोंकी सूची

रेडियो-स्टेशन	सिद्धनाथकुमार
कलाके क्षेत्रमें यथार्थ और कल्पना	रामनाथ सुमन
मरुस्थलमें मनोरंजनके साधन	देवीलाल सामर
संचार एवं परिवहनका विकास	कमलेश्वरी शरण
सुनीता	डॉ० धर्मवीर भारती
कवारकी सांस	रामनरेश पाठक
तीसरी कसम अर्थात् मारे गये गुलफाम	फणीश्वरनाथ रेणु
यह राजस्थान है	भगवतशरण उपाध्याय
बदरीनाथ	विष्णु प्रभाकर
झीलोंका देश कनाडा	गोविन्ददास
गीता-प्रवचन	विनोबा भावे
ऐन मौकेपर	रामवृक्ष बेनीपुरी
महायानमें विज्ञानवाद	रघुवीर
प्रवचन	विनोबा भावे
पंचवर्षीय योजना और नारी	नीलिमा मुकर्जी
नवीन भारतके तीर्थस्थान	आर० आर० खाडिलकर
आचार्य वल्लभका दरबार	डा० रामनिरंजन पाण्डेय
रोमाम	शम्भूरत्न त्रिपाठी
सर्वोदय	जयप्रकाश नारायण

जगदीशचन्द्र बोस	गोरख प्रसाद
जीवन-बीमाका राष्ट्रीयकरण	मन्नालाल सेन
बम्बोंका आविष्कार	चन्द्रकला दुबे
कवि-सम्मेलन और मुशायरे	रघुपतिसहाय 'फिराक'
कवि-सम्मेलनोंके कुछ खट्टे मीठे अनुभव	डा० हरिवंशराय 'बच्चन'
पुराणोंमें प्रतीक	मोहनलाल आत्रेय
स्त्रियोंके कार्यक्षेत्र : पत्रकारिता	सरला गुप्ता
प्रेमचन्दजी जब	कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'
बापूका पत्र-साहित्य	हरिभाऊ उपाध्याय
रामकृष्ण परमहंस	बाबूलाल पालीवाल
ऋषि दयानन्द	रामचन्द्र शर्मा
जीवनकी समीक्षा	रशीद अहमद सिद्दीकी
हिन्दीमें व्यंग्य	नलिनविलोचन शर्मा
जननी जन्मभूमिश्च—	रामधारीसिंह 'दिनकर'
जार्ज अरुण्डेल	हरिभाऊ उपाध्याय
समताका सिद्धान्त	विश्वम्भरनाथ पाण्डेय
मेरा व्यवसाय और साहित्य-सृजन	राजेन्द्रलाल हाडा
दिल्ली—नई और पुरानी	एम० मुजीब
आजका धर्म	ब्रजनन्दन आज़ाद
देलवाड़ा	जैनेन्द्र कुमार
दोस्त	मिर्ज़ा महमूद बेग
पुस्तकें जिनसे मैंने सीखा	राजबहादुर
जनताकी सुरक्षा	डा० सम्पूर्णानन्द
कर्जका बोझ और उसका निवारण	एम० एम० शाह
भारतकी पुरानी राजनीति	कैलाशचन्द्र देव 'बृहस्पति'

o